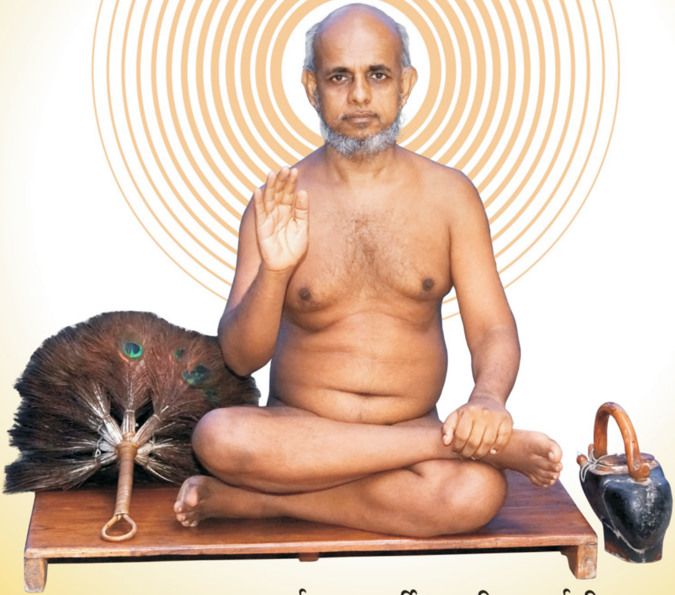

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सर्वोदयी जैनतन्त्र

लेखक

डॉक्टर नन्दलाल जैन

प्रकाशक

पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास

टीकमगढ़ (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

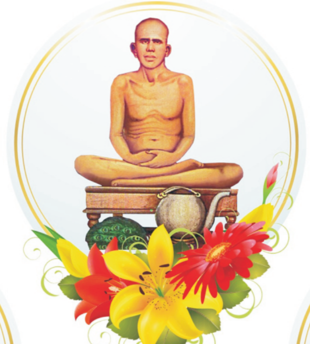

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

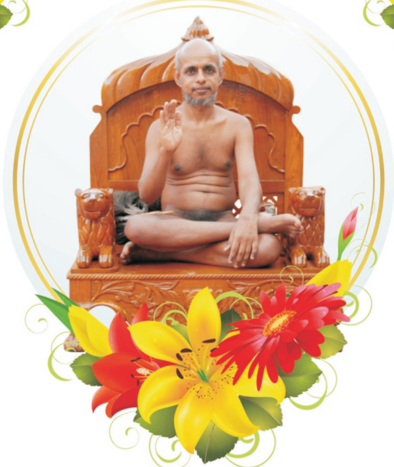

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

सर्वोदयी जैन तंत्र

डॉ. नन्द लाल जैन

प्रकाशक
पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास
पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म०प्र०)

☐ सर्वोदयी जैन तंत्र
डॉ. नन्द लाल जैन

☐ प्रथम संस्करण
1000 प्रतियॉं / 1997

☐ प्रकाशक
श्री कपूरचन्द जैन पोतदार
अध्यक्ष
पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास
पोतदार निवास, टीकमगढ़, (म०प्र०)

☐ व्यवस्था राशि
25/- रुपया

☐ प्राप्ति स्थान
श्री कपूरचन्द जैन पोतदार
पोतदार निवास, टीकमगढ़, (म०प्र०)
फोन-32394 S.T.D 07683

☐ कम्पोजिंग
लेखा कंप्यूटर्स
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-32, फोन - 2132247

☐ मुद्रक
शुभम् ऑफसेट,
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

सर्वोदयी जैन तंत्र

सर्वोदयी जैन तत्र – नाम की इस कृति को मैने आद्योपात पढा है। इसमे जैन तत्र के सभी आधारभूत विषयो को छुआ है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह जैन धर्म मे प्रवेश पाने वाले नये व्यक्ति के लिये या जिन्होंने जैन धर्म को अभी तक जाना ही नही है, उनके लिये बहुत उपयोगी है। जैन सिद्धान्त क्या है ? इसमे किस विषय को लेकर चर्चा है ? सुख-दुख की क्या परिभाषा है ? इसके मुख्य सिद्धान्त क्या है ? इन तमाम विषयो को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। हा, इतना अवश्य है कि कुछ शब्दो को बदल कर अग्रेजी भाषा मे प्रचलित शब्दो को लिखा गया है। इस ग्रन्थ के पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह जैनेतरो को भी जैन दर्शन का बोध कराने के उद्देश्य से लिखी गई है और इसमे लेखक सफल भी हुआ है। जैन दर्शन के समस्त अग–जैसे सात तत्व, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र, चार गतिया, चार कषाय, आठ कर्म चौदह गुण स्थान आदि के समस्त सूत्र इसमे यथास्थान लिखे गये है। लेखक ने काफी प्रयत्न किया–उन्हे एक जगह एक माला मे गूथने का। अत. लेखक धन्यवाद का पात्र तो है ही और मै उनके इस कार्य की सराहना करता हुआ भविष्य मे भी उनसे ऐसी आशा करता हू कि वे आगे बढते रहे।

कमल कुमार शास्त्री

सर्वोदयी जैन तंत्र (अंग्रेजी संस्करण) पर कुछ सम्मतियां

इस सारगर्भित पुस्तिका मे जैन धर्म से सबधित प्राय. सभी आवश्यक विषयो का सरल भाषा मे प्रभावी ढग से वर्णन किया गया है। लेखक ने इसमे जैन तत्र को एकीकृत रूप मे प्रस्तुत कर उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया है। यह पुस्तिका सक्षिप्त है, पर जैन विद्याओ के प्राथमिक अध्येता के लिये, जो उसे जानना चाहिये, उसके लिये अद्वितीय है। यह विदेशी पाठको के लिये उत्तम है।

दशरथ जैन, छतरपुर

●

मै आशा करता हू कि जैन इतिहास, सिद्धात और आचार से सबधित यह सारगर्भित पुस्तिका नई पीढी का ध्यान आकर्षित करेगी। जैन तंत्र के परपरागत सिद्धातो को सामयिक भाषा मे प्रस्तुत कर आपने एक बडी चुनौती का सामना किया है। मै प्रत्येक बुद्धजीवी को इसे पढने की तीव्र अनुशंसा करता हू।

प्रो० डेविड एम० ब्रुकमैन, हॉटन (मिशिगन), अमेरिका

●

आपकी पुस्तक बहुत अच्छी है और यह मेरे छात्रो के लिये अत्यत उपयोगी सिद्ध हो रही है।

प्रो० नोएल एच. किंग, लास एंजिलस, अमेरिका

●

"जैन तत्र . सक्षेप मे," में प्रस्तुत सामग्री मुझे जैन धर्म को समझने मे बडी सहायक हुई है।

प्रो० क्राम्वैल क्राफोर्ड, हवाई वि०वि०, अमेरिका

●

आपकी पुस्तक अनमोल है। आपने मेरी पुस्तक का विवरण देकर इसके विवरण को और भी अधिक वैज्ञानिकता दी है। इसका सर्वत्र प्रचार

हो, यही कामना है।

प्रो० के० व्ही० मरडिया, लीड्स वि०वि०, ब्रिटेन

●

"जैन तंत्र: सक्षेप मे" मे आपने जैन तंत्र के प्राय. सभी पक्षो को स्पष्ट रूप से तथा वैज्ञानिक रूप से देने का प्रयास किया है। इस सफल प्रयास के लिये बधाई।

गणेश ललवानी, कलकत्ता

●

आपकी इस पुस्तक से देश-विदेश के अग्रेजी पाठको को लाभ होगा। इसमें जैन परपरा की सक्षिप्त एव प्रामाणिक जानकारी दी गयी है। ऐसी उपयोगी और सारगर्भित पुस्तक के लिये बधाई।

डॉ० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

●

पुस्तक पढी, अच्छी है। कुछेक जगह पर जैन मान्यताओ को गणितीय रूप देने का प्रयत्न बहुत अच्छा है।

मुनि नंदिघोष विजय, अहमदाबाद

●

'सर्वोदयी जैन तत्र' नामक हिदी पुस्तक में आपने जैन सिद्धान्त, इतिहास, आचार सहिता आदि सभी विषयो की अत्यन्त उपयोगी सामग्री इतने सक्षेप मे देकर, आम आदमी पर बडा उपकार किया है। इतनी सरल भाषा और सुबोध शैली में वैज्ञानिक पद्धत्ति का अनुसरण करते हुए लिखी गई यह पुस्तक, निश्चय ही एक स्तुत्य प्रयास है। देश-विदेश का शिक्षित वर्ग इस पुस्तक से अवश्य लाभान्वित होगा। इस सद्-प्रयास हेतु अनेकानेक साधुवाद।

डॉ. प्रकाश चन्द्र जैन

कुद-कुद शोध सस्थान, इन्दौर

अनुक्रमणिका

मंगल आशीर्वाद	प0पू0 एलाचार्य 108 नेमीसागर जी महाराज	ix
प्रस्तावना	दशरथ जैन, पूर्व मत्री म0 प्र0 शासन	xi
प्रकाशकीय	कपूरचन्द्र पोतदार, अध्यक्ष पोतदार ट्रस्ट	xiii
आमुख	डॉ. नन्दलाल जैन	xvi

1. धर्म का विकास और जैन तत्र की विशेषताए — 19
2 जैन तंत्र के सिद्धान्त — 21
3. जैन तत्रं की वैज्ञानिकता — 30-44
   - (अ) वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन — 31
   - (ब) अनेकान्तवाद — 32
   - (स) जैन तर्कशास्त्र — 35
   - (द) सैद्धान्तिक अवधारणायें और भौतिक जगत की घटनाएं — 37
   - (इ) आध्यात्मिक या नैतिक विकास का विज्ञान — 40
   - (फ) कर्मवाद का विज्ञान — 43
4. जैन तत्र का इतिहास — 45-57
   - (अ) राजकीय संरक्षण — 45
   - (ब) साहित्यिक इतिहास — 49
   - (स) सामाजिक इतिहास — 53
5. जैन तत्र के भेद — 58
6. जैन आगम साहित्य — 60
7. जैन कला और स्थापत्य — 62
8. धार्मिक यात्रा हेतु पवित्र स्थल : तीर्थ क्षेत्र — 65
9. जैनों के कर्मकाण्ड : विधि-विधान और पर्व — 67
10. जैन सिद्धान्तो का प्रभावी सम्प्रेषण — 69
11. विदेशो मे जैन धर्म — 75

12. जैन तत्र की प्रभावकता का सवर्धन	79
13. सम-सामयिक समस्यायें और जैन धर्म	81-93
(अ) जाति, कुल और धर्म	82
(ब) महिलाये और जैन तंत्र संवर्धन में उनका योगदान	83
(स) युद्ध और राजनीति	87
(द) सामाजिक विषमता और जैन समाजवाद	88
(य) पर्यावरण सरक्षण	90
14. परीक्षा की घडी . सर्वोदयी जैन तत्र	94

परिशिष्ट

1. सन्दर्भ सामग्री	96
2 सारणी–2 जैन तत्र के मौलिक सिद्धान्तो का विवरण	99

मंगल आशीर्वाद

हम इक्कीसवीं सदी के द्वार पर हैं। यह विज्ञान और तकनीकी की सदी होगी। इस सदी में अपने अस्तित्व को प्रभावी और विस्तारशील बनाये रखने के लिये हमें अपने पुरातन नैतिक और धार्मिक ज्ञान को भी वैज्ञानिक रूप से वैज्ञानिक भाषा मे प्रस्तुत करने का अभ्यास करना होगा।

जैन धर्म गुण-विशेषित धार्मिक तत्र है। इसमे वैज्ञानिक दृष्टि है। इसमे वैज्ञानिकता के सभी तत्व है। इसके इतिहास, दर्शन और धार्मिक मान्यताओं ने विश्व के विद्वत् जगत् को पर्याप्त प्रभावित किया है। पर उसकी प्रस्तुति परम्परावादी होने से इसे वह लोकप्रियता एवं विश्वजनीनता नहीं मिल सकी है जो इसे मिलनी चाहिए थी। इन दिनों जैन तंत्र से सम्बन्धित सभी स्तर का परम्परागत साहित्य पर्याप्त मात्रा में साधुजनों के माध्यम से, उनके आशीर्वाद से एव स्वतत्र रूप से सामने आ रहा है। उसमे अतीत का पुट अधिक रहता है, वर्तमान और भविष्य प्रायः उपेक्षणीय जैसा ही रहता है। फलतः उसकी प्रभावकता का क्षेत्र सीमित होता है।

इस प्रभाविता के संवर्धन मे लेखन की वैज्ञानिक पद्धतियो का स्वांगीकरण आवश्यक है। इसीलिए आधुनिक लेखन में सैद्धान्तिक चर्चाओ की सुस्पष्टता के लिए श्रव्य एवं पाठ्य सामग्री के अतिरिक्त दृश्य सामग्री भी अनिवार्य मानी जाती है। उसे वैज्ञानिक एवं गणितीय सूत्रो के रूप मे प्रस्तुत करना भी इसमे नवीनता लाता है। ऐसी सामग्री हमें इक्कीसवीं सदी मे जाने का सामर्थ्य देगी।

'सर्वोदयी जैनतत्र' के लेखक ने इस दिशा मे प्रयत्न किया है। उन्होने धर्म के सूत्र को गणित के सूत्रो मे परिणत किया है। रेखा चित्रो द्वारा आध्यात्मिक विकास के पथ की सरलता एव जटिलता बताई है और दस परम्परागत दृश्य चित्रो द्वारा जैन तत्र के मौलिक सिद्धान्त समझाये है। उन्होंने जैन इतिहास को राजनीतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक रूप में प्रस्तुत कर नवीन रचनाकारो को एक दिशा दी है। सक्षेप मे, उन्होंने जैन जगत के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत किया

है जो प्राय. विरल ही पाया जाता है। अनक वर्तमान समस्याओ के समाधान में जैन मान्यताओ की सार्थक भूमिका को प्रस्तुत कर इसके जन मगलकारी सर्वोदयी एवं वैज्ञानिक रूप को प्रस्तुत किया है। फलत. उनकी यह लघु कृति प्रचलित लेखन परम्परा के विपर्यास मे जैन तत्र को इक्कीसवी सदी के प्रभावशील विश्वतंत्र के रूप मे प्रस्तुत करती है।

इस विषय पर उन्होने अग्रेजी मे 'जैन सिस्टम इन नटशैल' (1993) लिखी थी। पाठकों के द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर उन्होंने इसे परिवर्धित कर हिन्दी में एक प्रकार से पुर्नलिखित किया है। मैंने सरसरी तौर पर इसे पढा है और इसमे मुझे रस मिला है। मै चाहता हू कि इसे सभी लोग पढे और अपने चितन को समयानुकूल रूप मे ढाल कर धार्मिकता के उन्नयन की ओर बढें। मै इस पुस्तक के लेखक डॉ० नन्द लाल जैन और प्रकाशक पोतदार ट्रस्ट, टीकमगढ को अपना आशीर्वाद देता हू। वे सदैव धर्म की सेवा करते रहे और जैन धर्म को विश्व धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे अपना योगदान करते रहे।

मगल आशीर्वाद

रीवा, 5 अप्रैल, 1997

(श्री 108) एलाचार्य नेमीसागर

प्रस्तावना

'सर्वोदयी जैन तंत्र' लेखक की अंग्रेजी पुस्तिका 'जैन सिस्टम इन नटशैल' (1993) का परिवर्धित हिन्दी अनुवाद है। यह अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। यह जैन तत्र का सर्वांगीण सार-सग्रह है। इसमें सरल और सुबोध भाषा मे प्रमुख जैन सिद्धान्त, जैन तंत्र की वैज्ञानिकता तथा उसके द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन, कर्मवाद, अनेकान्तवाद, जैन तर्कशास्त्र, अवधारणात्मक एव भौतिक घटनाओ की व्याख्या, परमाणुवाद, ऊर्जाएं और उनका रूपान्तरण, आध्यात्मिक एव नैतिक विकास का विज्ञान और आचार सहिता, जैनो के राज्याश्रय, साहित्य एव समाज का इतिहास, जैन साहित्य, पुरातत्व, तीर्थक्षेत्र, विधि-विधान और उत्सव, जैन सिद्धान्तों का चित्रों द्वारा प्रभावी सप्रेषण, विदेशों मे जैन धर्म, जैन धर्म की प्रभावकता का सप्रेषण तथा वर्तमान राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान मे जैन सिद्धान्तों का योगदान के समान अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत जैन तत्र के विकासकाल से लेकर बीसवी सदी तक की महत्वपूर्ण सूचनाये विश्लेषणात्मक एव विधायक दृष्टि से दी गई है। यह स्पष्ट है कि इस पुस्तक का विषय क्षेत्र व्यापक है और देश-विदेश के अनुभवों का लाभ लेकर लेखक ने प्रत्येक विषय पर प्रभावी, आधुनिक एव नवीन ढग से प्रकाश डाला है। इसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वो की विवेचना अद्भुत एव वैज्ञानिक विधि से, गणितीय सूत्रो एवं समीकरणो की भाषा के प्रयोग से की गई है। इससे नयी पीढी उसे सरलता से हृदयगम कर सकेगी एव नैतिक उत्थान के प्रति अविरत रूप से जागरूक बनेगी। इसमे दिये गये सारणियो, रेखाचित्रो एव चित्रों ने वर्णन को रोचकता तथा आकर्षण प्रदान किया है। यह लेखक का अनूठा प्रयास है।

इस पुस्तक की एक विशेषता और है कि इसमे जैन तत्र का समग्र चित्र निष्पक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टि से दिया है। इससे यह समग्र जैन तंत्र का रूप प्रस्तुत करती है। पुस्तक के अत मे दी गई सन्दर्भ सामग्री

जिज्ञासुओं के लिए पर्याप्त ज्ञानवर्धक है। यह बहुत कम पुस्तको मे पाई जाती है।

यह पुस्तक उपदेश प्रधान नही है, बुद्धिपूर्वक श्रद्धा को जन्म देकर हितकारी एव सर्वोदयी आचरण और चितन की ओर प्रेरित करना इसका लक्ष्य है। यही इसकी विशेषता भी है और नये युग की आवश्यकता भी।

यह पुस्तक लघुकाय है, पर इसमे वे सभी सूचनाए है जो जैन विद्या के प्राथमिक जिज्ञासु के लिए आवश्यक है। इसका अग्रेजी संस्करण विश्व के पांचो महाद्वीपो मे प्रसारित हुआ है। यह हिन्दी सस्करण भी लोकप्रिय बनेगा, यही शुभकामना है।

छतरपुर, म०प्र०

दशरथ जैन
पूर्व मंत्री, म० प्र० शासन

प्रकाशकीय

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हम बिन्ध्य क्षेत्र के बुन्देल खण्ड प्रान्त में जन्मे और यहां की गरीब पर जीवन-दायी और संस्कार-युक्त सस्कृति व आबोहवा मे पले है। यहा का जीवन श्रम-साध्य, नेक और धार्मिक सस्कारों से युक्त है। यहां एक ओर वैदिक सस्कृति के चित्रकूट धाम और खजुराहो जैसे कला केन्द्र हैं, वहीं दूसरी ओर यहां पपौरा जी, अहार जी, द्रोणगिरी, नैनागिर, कुण्डलपुर, देवगढ, चन्देरी, सीरोन जी आदि जैन संस्कृति के मनोरम केंद्र तथा कला के अपार भंडार स्थित हैं।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज ने पिछले लगभग 15 वर्षों मे यहा के जैन समाज मे संस्कृति के गौरव और उसके रक्षण के प्रति जो जागृति पैदा की है, वह हमें परम-पूज्य वर्णी जी महाराज के उन दिनो की याद कराती है जब समाज मे जैन संस्कृति, विद्या और ज्ञानोपार्जन के लिये साधनहीनता के बावजूद भी अनेक जैन संस्कृत विद्यालय व विद्वान् प्रदान किये। उसी परमपरा मे आज आचार्य श्री ने पढे लिखे, ज्ञानवान व चरित्र से भरपूर युवा साधु माताये, मुनि, ब्रह्मचारी तथा धर्म संस्कृति के रक्षण के लिए एव मानव व प्राणी मात्र के लिए उपयोगी सार्वजिनक भाग्योदय तीर्थ एव सर्वोदय तीर्थ जैसे पवित्र संस्थान भी दिये हैं।

इसी सदर्भ में आचार्य श्री के दर्शन, भ्रमण और सामीप्य का सौभाग्यशाली अवसर मुझे मिला और समाज के धार्मिक, नैतिक व चारित्रिक मूल्यो की पुनर्स्थापना के लिए मेरे मन मे एक ट्रस्ट स्थापित कर उसके द्वारा आचार्य श्री व उनके सुयोग्य शिष्यों, साधुओं के प्रवचन, लेख आदि का प्रकाशन कर जनसाधारण के उपयोग के लिए प्रकाशित करने का विचार आया और "पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक ट्रस्ट" की स्थापना की।

हमे प्रसन्नता है कि इस न्यास के प्रथम पुष्प के रूप मे परमपूज्य आचार्य संमत भद्र स्वामी का श्रावकों के लिए आदर्श रत्नत्रय धर्म की

व्याख्या करने वाला शिरोमणि ग्रन्थ "रत्नकरण्डक श्रावकाचार" के मूलपाठ एव मुनिश्री 108 समता सागर जी द्वारा रचित उसके हिन्दी दोहानुवाद, अन्वयार्थ व भावार्थ प्रकाशन का अवसर प्राप्त हुआ। इस हेतु आचार्य श्री का आशीष एव मुनिश्री की कृपापूर्ण अनुज्ञा मिली।

जैन धर्म सम्पूर्णरूप से तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत वैज्ञानिक व सार्वभौमिक धर्म है। आज के युग की युवा पीढी चहुंमुखी विकास के कारण केवल अन्ध श्रद्धा की कोई बात मानने को तैयार नहीं है। इसलिये मेरे मन में एक मार्गदर्शक, तथ्य व तर्क-पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन करने वाली लघु-पुस्तिका प्रकाशित करने का विचार आया ताकि युवावर्ग व जैनेतर मानव समाज भी जैन धर्म व उसकी वैज्ञानिक पद्धति पर अपनी जीवन-चर्या पालते हुए सुख, समृद्धि व शान्ति प्राप्त करे। हमारे न्यास के इस विचार को अनेक लोगो से प्रेरणा मिली।

इसी क्रम मे "सर्वोदयी जैन तत्र" के रूप मे डॉ० नन्दलाल जी की पुस्तक हमारे सामने आई। हमारे अनेक विद्वान मित्रो ने इसे पढ़ा और पुस्तक प्रकाशन की अनुशसा की। भाई नन्दलाल जी से पिछले 50 वर्षों से हमारा सम्पर्क व स्नेह है और वह न केवल स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के स्नातक हैं और विज्ञान मे रसायन शास्त्र मे डाक्टरेट प्राप्त हैं। उन्होने देश-विदेश मे—जैन धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नही वरन् पूरक है—इस तथ्य को प्रचारित-प्रसारित करने मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। जैन धर्म के सभी वर्गों के विद्वानो और साधुओ से उनकी चर्चा व सम्पर्क होता रहता है और वह उनसे ज्ञान व आशीष भी प्राप्त करते हैं।

हमे उन्होने इस पुस्तक के प्रकाशन की स्वीकृति दी, इसके लिए हम उनके आभारी है। हम ऐलाचार्य नेमी सागर जी महाराज के आशीर्वाद, भाई दशरथजी तथा डॉ० प्रकाश चन्द जी, प० कमल कुमार जी शास्त्री के भी आभारी हैं, जिन्होने इसके लिए मगल कामनाए प्रदान की हैं। हम विशेषरूप से अपने अनुजवत् मित्र भाई नेमचन्द्र जी "शील" दिल्ली के लिए आभार प्रगट करते हैं जिन्होने अस्वस्थ होते हुए भी इसके प्रकाशन मे सहयोग दिया है। स्वय "शील" जी की कई पुस्तके जीवन में प्रेरणा देने वाली प्रकाशित हो चुकी है और उन्होंने कामना की है कि यह पुस्तक जनो पयोगी होगी।

अंत मे, मै अपने ट्रस्ट के सभी साथियो, सहयोगियो की ओर से

आचार्य श्री 108 विद्या सागर जी महाराज व संघस्थ साधु श्री समता सागर जी, श्री क्षमासागर जी, श्री सुधासागर जी, श्री प्रमाणसागर जी महाराज व समस्त माताओं, साधुओं के चरणों में शत-शत नमन करता हुआ प्रार्थना करता हूं कि हमें इस तरह के कार्यों में उनका आशीष एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

आशा है, यह पुस्तक जैन समाज के अतिरिक्त सभी वर्ग के बंधुओं के लिए भी उपयोगी होगी। हम सुधी पाठकों एवं विद्वानों से यह आशा करते हैं कि वे हमें ऐसे कार्यों में सहयोग व मार्गदर्शन निरन्तर देते रहें।

विनीत

कपूरचन्द जैन पोतदार
अध्यक्ष, पोतदार धार्मिक एवं
पारमार्थिक ट्रस्ट
पोतदार निवास, टीकमगढ़ (म० प्र०)
PH. : 07683/32394, 33186.

आमुख

यह विज्ञान और तकनीकी विकास का युग है। इसके कारण मानव को बौद्धिक खुलापन मिला है। तर्कबुद्धि और प्रयोगकला में निपुणता प्राप्त हुई है। इसके साथ ही, मानव में यह विश्वास भी जागा है कि उसमें भौतिक और आध्यात्मिक विकास की अनत संभावनाएँ प्रमुख रूप मे विद्यमान है। अनीश्वरवादी तंत्र इस प्रकार की मनोवृत्तियो को प्रोत्साहित करते हैं। यह सौभाग्य की बात है कि इस प्रवृत्ति को विकसित करने में जैनतत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। माइकेल टोबायास ने कहा है कि जैनतत्र के अध्ययन करते समय ही व्यक्ति मे जैनत्व आने लगता है और उसमे एक नयी आतरिक जीवनशक्ति का अनुभव होता है।

जैन तत्र प्रत्येक प्राणी को अनेक प्रकार के विरोधों से विदलित इस विश्व मे एक ईमानदारी पूर्ण एकता की प्रतीति की ओर निर्देशित करता है। यह जीव–वैज्ञानिक नीति शास्त्र का दर्शन है। यह आध्यात्मिक पर्यावरण के निर्माण का दर्शन है। यह अहिंसक वनस्पति विज्ञान और आध्यात्मिक प्राणिशास्त्रीय तत्र है। यह तत्र इस बात का प्रशिक्षण देता हैं कि ईर्ष्या एव द्वेष के दो क्षण जहॉ ससार मे प्रलय ला सकते है, वहीं दो क्षणो का आत्मनिरीक्षण ससार को बचा भी सकता है। इसीलिए आचार्य समतभद्र ने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है।

जैन तत्र मे मनोविज्ञान के मौलिक तत्व है। यह मानव के व्यवहारों का मनोविश्लेषण करता है और मनोभावो तथा मूर्छासिक्त अर्जनवृत्तियों को सीमित करने का नैतिक एव अहिसक विश्लेषण कर मानवहित के मार्ग सुझाता है। जैन तत्र एक प्रभावी प्रकृति-विज्ञानी है जहाँ यह अहिसक वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान एव पर्यावरणिकी के विवरण प्रस्तुत कर समुचित दिशा निर्देश देता है। इस तत्र में अनेक त्रिक हैं जो मानव की भौतिक, वाचनिक और कायिक वृत्तियो के निरुपक हैं। ये त्रिक इसकी वैज्ञानिकता एव विश्वजनीनता को समर्थन देते है। यद्यपि यह सभव नही

हो सका है कि संसार में हिंसा और युद्धों की श्रृंखला समाप्त हो जाय, फिर भी अनेक लेखक जैनधर्म की उस सुगंध का अनुभव करते हैं जहाँ यह इन समस्याओं के समाधान का परागण करता है। जैनों की मान्यता है कि विज्ञान और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। लेखक की दृष्टि में यह विश्व का सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म है जो दृष्ट, श्रुत, अनुभूत एवं सुधार की वृत्ति का प्रारंभ से ही प्रेरक है।

यह माना जाता है कि पश्चिम में अहिंसा की विचारधारा सदैव अल्पमत में रही है। इसके विपर्यास में, यह प्रायः सभी पूर्वी तंत्रों की बहुमती विचारधारा रही है। जैन तत्र इस दृष्टि से पूर्ण अहिंसावादी रहा है। इस हिंसापूर्ण जगत में जैनतंत्र स्थायी निश्चेतक का काम करता है। जैनो की घोषणा है कि संसार के सभी प्राणी-एकेंद्रिय से लेकर पंचेद्रिय तक धार्मिक दृष्टि से बराबर हैं एवं विकास की समान क्षमतायें रखते हैं। उन्होने यह भी बताया है कि अहिंसक व्यवसाय भी प्रतिस्पर्धात्मकतः लाभकारी हो सकते हैं। वे यह भी मानते हैं कि संसार की वर्धमान प्रगति के लिये, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक हो, सापेक्षवादी विचारणा की प्रवृत्ति ही लाभकारी होती है। यद्यपि यह सत्य है कि अनेक सिद्धान्तों एवं उनके प्रायोगिक रूपो में वैषम्य भी पाया जाता है, फिर भी वैज्ञानिक जैन तंत्र यह मानता है कि हिंसा का अल्पीकरण ही हमारे सिद्धान्तों का मूल है। वैज्ञानिक नियमों के अनुप्रयोगों मे भी प्रकृस्या दृश्य वैषम्य के कारण ही अनेक नियमों के आदर्श एवं व्यावहारिक रूप विकसित किये जाते हैं।

जैनतंत्र की ओर पश्चिम जगत का ध्यान बहुत देर से–लगभग उन्नीसवीं सदी में आकृष्ट हुआ। लेकिन यह प्रसन्नता की बात है कि समय के साथ इस ओर उनका ध्यान और अनुसधान निरन्तर बढता जा रहा है। धार्मिकता के क्षरण के इस युग में जैनतंत्र नई पीढी के लिये पर्याप्त मार्गदर्शन देता है। इस तंत्र को सामान्य एवं वैज्ञानिक रूप से समझने के लिये बहुत कम पुस्तके या पुस्तिकाये देखने मे आई है। यह पुस्तिका इस दिशा में एक लघुतम विनम्र प्रयत्न है। मुझे आशा है कि नई पीढी एव अन्य पाठक वर्ग इस प्रयास को प्रोत्साहन देगा और अपनी धार्मिकता को प्रबल बनायेगा।

यह पुस्तिका निज-ज्ञान-सागर शिक्षा कोष, सतना के प्रोत्साहन पर मूलत. अंग्रेजी में लिखी गई थी। इसका मूल नाम "जैन सिस्टम इन

नटशैल" (जैनतंत्र : सक्षेप में) था। "धर्म" शब्द के प्रति अरुचि की प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः मैने इसे 'तंत्र' शब्द के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आध्यात्मिक एवं भौतिक दृष्टि से, सर्वप्राणिहित-सवर्धनी सर्वोदयी आचार-विचार पद्धति ही श्रेष्ठ तंत्र मानी जाती है। जैन तंत्र एक ऐसी ही पद्धति है। इसके अंग्रेजी सस्करण का देश एव विदेश के विद्वत्-वर्ग एव सुधी जनों ने स्वागत किया है। इसके हिन्दी सस्करण का सुझाव अनेक दिशाओं से आता रहा है। मुझे प्रसन्नता है कि अब यह आपके समक्ष किंचित् परिवर्धित रूप मे "सर्वोदयी जैनतत्र" के नाम से सामने आ रहा है। मेरा विश्वास है कि इसका सर्वत्र स्वागत होगा। इस संस्करण मे भी यह ध्यान रखा गया है कि पुस्तिका के सुगम और सहज पाठन के लिये इसकी भाषा मे पारिभाषिक शब्द न्यूनतम रहें और विवरण जटिल न हो जाये। फिर भी, इसके सवर्धन एवं अपूर्णताओ के सम्बन्ध मे पाठको के सुझावो का सदैव स्वागत होगा।

पोतदार ट्रस्ट, टीकमगढ ने 'सर्वोदयी जैन तत्र' का प्रकाशन करके इसे देश विदेश के शिक्षित वर्ग एव आम को सुलभ कराया है। इससे भारतीय सस्कृति व साहित्य के साथ ही जैन सहित्य भी पल्लवित होगा। इस श्रेष्ठ कार्य के लिये मै ट्रस्ट के अध्यक्ष भाई कपूर चद जी पोतदार एव पोतदार ट्रस्ट के प्रति आभारी हू।

नंदलाल जैन

धर्म का विकास और जैन तंत्र की विशेषतायें

आधुनिक विचारकों की दृष्टि में "धर्म" शब्द का अर्थ मानव का नैतिकत. समाजीकरण है। इसका दूसरा अर्थ व्यक्ति का इस रूप में विकास भी है जो सर्वोदय का प्रेरक हो, जो सभी को उच्चतम सुखमयता के लिए मार्ग प्रशस्त करे। वस्तुत. सच्चा धर्म तो मानव धर्म ही है जो "जियो और जीने दो" तथा "जियो और जीने में सहायक" हो। इस प्रकार, यद्यपि धर्म विश्वजनीन होता है, फिर भी, विश्व के इतिहास के अनेक युगों मे और अनेक क्षेत्रो मे अनेक धर्म-तन्त्रो का उदय हुआ है जो व्यक्ति और समाज के सुखमय जीवन के निर्माण मे निर्देशक हुये हैं। इनमें प्रत्येक ने स्वय को मानवता का सर्वोत्तम हितकारी माना है। लेकिन भाषा, सचार और अन्य बाधाओ के कारण ते विश्व भर में सुज्ञात न हो सके। अमरीकी लेखक एलबुड का यह विचार बहुसम्मत है कि प्रत्येक धर्म तंत्र विश्वधर्म या मौलिक मानव धर्म का केवल अंशत: परिवर्तित रूप ही है जिसके विभिन्न नाम हैं। ये सभी धर्म तत्र मानव की सुखमयता के सम्वर्धन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के अनेक प्रकार हैं। इस आधार पर, जब हम जैन तंत्र के विषय मे चर्चा करते है, तो हम पाते है कि यह मानवतावाद के विकास की ऐसी पद्धति है जिसमे अन्य धर्मों के समान विशिष्ट एवं निश्चित आदर्श एवं व्यवहारो का समुच्चय है। विद्वानो का विचार है कि जैन तंत्र सभी युग के स्वतंत्र चेता, बुद्धिवादी एवं तर्क-प्रवीण व्यक्तियो के लिए सर्वोत्तम आदर्श और व्यवहार प्रस्तुत करता है। यह न तो ईश्वरीय तत्र है और न ही यह दैवी तत्र है। इसमे न तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को कोई स्थान है और न ही पोप के समान अधिकार प्राप्त सप्रभुता ही है। यह उत्तार-वादियो का तत्र है, यह अवतार तत्र नहीं जिनका चरित्र केवल अनुकरणीय की अपेक्षा श्रवणीय अधिक होता है। इस तत्र की विशेषताओ मे (1) भौतिक एवं मनोभावात्मक अहिंसावाद, (2) कर्मवाद, (3) बहुवास्तविकतावाद, (4) महिलाओ

के लिए समान एव आदरणीय उदारवाद, (5) कर्म-आधारित समाज या वर्ग व्यवस्था और (6) मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद प्रमुख हैं। इसमें विश्वधर्म होने की क्षमता है क्योंकि (1) इसके अपने आगम ग्रन्थ हैं। (2) इसके प्रसारक आदरपात्र तीर्थंकरों के समान शलाकापुरुष है और (3) इसमे मानव तो क्या, सभी प्राणियों के हित के लिए व्यवहारिक या सर्वोदयी निर्देश हैं। इसके मूलभूत सिद्धान्त नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यों के आधारभूत हैं।

विश्व के अनेक विद्वानो को इस पर आश्चर्य है कि ऐसा सर्वतोभद्र एवं प्राचीन तत्र अनुसधान-प्रवीण पश्चिम को इतने दिनों तक अज्ञात क्यो बना रहा ? यह तो सौ वर्ष में कार्यरत लगभग तीन दर्जन से अधिक पश्चिमी विद्वानो के अविरत प्रयत्नों का सुफल है जिनके कारण विश्व इस वैज्ञानिकतः प्रेरक एवं अचरजकारी तंत्र की ओर आकृष्ट हुआ है। विश्व के विचारक इस तत्र को नैतिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, तत्व एव प्रमाण-विद्या तथा बुद्धिवाद के आधार पर सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

समय अब बदल गया है। अब जैनतत्र का इतिहास भगवान ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। वे पूर्व-वैदिक एव सभवतः सिंधुघाटी सभ्यता के आचार्य थे। आधुनिक विद्वान अब यह मानने लगे है कि जैनतंत्र भारतमूलक आर्यपूर्व एव प्रागैतिहासिक तत्र है जो सभवतः वर्तमान मे भी दीर्घजीविता प्राप्त श्रमणधारा के अन्तर्गत ईसा पूर्व तीसरी-चौथी सहस्राब्दि मे पुनः स्थापित हुआ होगा। इस धारा मे दिगम्बरत्व की पूजा, यौगिक आसन, चक्रीय अनादि-अनत समय की धारणा एव सर्वजीववाद के सिद्धान्त माने जाते रहे है। सिधुघाटी के उत्खनन से प्राप्त अनेक प्रकार के अवशेष उस युग मे इन धारणाओ के अस्तित्व के साक्ष्य देते है। इस प्रकार, जैनतत्र, ससार का एक प्राचीनतम, अनीश्वरवादी, अहिंसक, समग्रतावादी, और अनेकातवादी सिद्धान्तो का तंत्र है। वर्तमान युग मे केवल यहूदीतत्र उसके समकालीन बैठता है जिसका इतिहास प्राय. 3700 वर्ष ईसा पूर्व का माना जाता है। उत्तरकाल मे वाराणसी क्षेत्र के पार्श्वनाथ (877-777ई० पूर्व) और मगध के महावीर (599-527 या 540-468 ई० पूर्व) ने इस तंत्र को अपने युगो मे इस प्रकार व्यवस्थित किया कि यह आज भी अत्यन्त प्रभावी एवं जीवित धर्मतत्र बना हुआ है।

इस तत्र का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसे आध्यात्मिकतः उच्चतर स्तर पर ले जाना है जो सर्वोदयी समाज के निर्माण में सहायक हो। यह एक व्यक्ति

को सभी व्यक्तियों की ओर रूपायित करता है और उसे अपने घर को छोड़ विश्वनीड़ बनने को प्रेरित करता है। यह मानव में ईश्वरत्व को विकसित करता है। यह आत्मविश्वास, आत्म-अनुशासन, आत्म-पुनीतकरण एव व्यावहारिक आशावाद का ऐसा दर्शन है जो मानव की सहज और अनन्त क्षमताओ को विकसित करता है। यह मानव के दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है। इसके सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज के पुनर्निर्माण या नवनिर्माण में गतिशील आवेग उत्पन्न करते है, इससे विकृतियां दूर हो सकती है और एक सतत प्रवाहशील जीवंत विचार एव कार्यपद्धति उत्पन्न होती है जो इसकी दीर्घजीविता का मुख्य घटक है। यद्यपि इस तंत्र के विभिन्न युगों मे अनेक नाम (निर्ग्रन्थ, श्रमण, अर्हत् आदि) रहे हैं, फिर भी, इसका आधुनिक नाम "जैन" प्राय. पिछले बारह सौ वर्षें से लोकप्रिय है। इसके सिद्धान्त और व्यवहार रूपो मे अविरतता बनी हुई है।

2. जैन तंत्र के सिद्धान्त

जैनतत्र मे धर्म को व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ-दो रूपो मे परिभाषित किया गया है। यह जीवन की ऐसी पद्धति है जो प्राणिमात्र को उच्चतम आध्यात्मिक सुख की ओर ले जाती है। यह व्यक्ति मे सुधार करती है और समाज को सुन्दरतर बनाती है। इस पद्धति का मार्ग सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् व्यवहार की त्रिवेणी से पार होता है। इसके सिद्धान्त बहु-वास्तविकतावादी कथनो से प्रारभ होते हैं :

1. यह चराचर विश्व अनादि-अनत है। यह सभी प्रकार के अस्तित्वों का समुदाय है। यह प्राकृतिक नियमो से सचालित होता है। इसके सचालन मे कोई वाह्य या दैवी शक्ति काम नही करती। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार जैनतत्र अनीश्वरवादी तत्र है। इस विश्व के दो रूप है—भौतिक और आध्यात्मिक।

2. भौतिक दृष्टि से, विश्व मे छह द्रव्य है। इसमे (1) जीव और (2) अजीव द्रव्य (3) आकाश मे सहवर्ती रहते है और (4) उदासीन गति एव (5) स्थिति माध्यमो मे गतिशील एवं विराम अवस्था मे रहते है। इस प्रकार, जैन तत्र चर्तुविमीय जगत् की (6) समय सापेक्ष उद्घोषणा करता है। यहा द्रव्य शब्द का विंशिष्ट अर्थ है। यह एक ऐसा अस्तित्व है जो गुण (सहवर्ती)

और पर्यायों (क्रमवर्ती) का आधार हो। यह गतिशील स्थायित्व का प्रतीक है। इस प्रकार, इस भौतिक विश्व मे जीव, अजीव, आकाश, गति-माध्यम, स्थिति माध्यम एव काल–ये छह द्रव्य पाये जाते है।

3. आध्यात्मिक दृष्टि से, सुख का मार्ग 9-11 तत्वों के परिज्ञान तथा अनुभूति के माध्यम से प्रशस्त होता है। इन तत्वो की सख्या उमास्वामी ने बाद मे सात निश्चित की है

(1-2) जीव और अजीव तत्व एक-दूसरे से सयुक्त होकर भौतिक और भावात्मक क्रियाओ के माध्यम से कर्मों के (3) आश्रव तथा (4) बध के माध्यम से जीव के सासारिक अस्तित्व मे सहायक होते हैं। इस विश्व में जीव सदैव अजीव (कर्म, शरीर आदि) से प्रदूषित रहता है। लेकिन जीव मे इस प्रदूषण को दूर कर अपने स्वतत्र अस्तित्व मे आने की तीव्र लालसा रहती है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य, दुख-निवृत्ति, (7) परमसुख या मोक्ष प्राप्त करना है। यह सुख तप एव व्रतो के भौतिक एव मानसिक (5) सवर के प्रकारो तथा (6) बधे हुए कर्मों के निर्झरण या निर्जरा की बहुचरणी प्रक्रिया के अपनाने से प्राप्त होता है। वस्तुत. सुख, H. कर्मबध की शिथिलता के अनुपात में होता है। उच्चतम या अनत सुख तो मानव पुरुषार्थ का अंतिम चरण है जिसे धार्मिकता, R. कह सकते है। फलत:

$$H \propto R. \qquad \ldots \qquad (1)$$

(H = Happiness), (R = Religiosity)

और, ससार-दुख के कारण = आश्रव और बध, और

ससार सुख के कारण = सवर और निर्जरा

4. जीवन मे सुख की प्राप्ति उपरोक्त तत्वो और द्रव्यो के तर्कसंगत एव सम्यक् विश्वास पूर्ण ज्ञान एव प्रयोग से होती है। ये (3-4) ही दुखमय ससार के कारण है और इनके (5-6) के अनुसार आचरण इन दुखो को दूर करने के उपाय है। जैन तत्र का यह समन्वित त्रिचरणी (भक्ति/श्रद्धा, ज्ञान/दर्शन और चारित्र) मार्ग है जो अन्य तत्रो के एकल या द्विकल मार्ग की तुलना मे अपनी विशिष्टता प्रकट करता है।

5. प्राणि-जगत मे भौतिक एव भावात्मक इच्छाये, महत्वाकाक्षाये, राग, द्वेष, घृणा, उपलब्धिया आदि की बहुलता है। इन्हे जैन तंत्र मे कषाय, P (Passion) कहते है। ये अच्छी भी हो सकती है बुरी भी हो सकती हैं।

इनकी संख्या सीमित भी हो सकती है और असीमित भी हो सकती है। बुरी कषायें अवाछनीय होती है और दुःख और अतृप्ति को जन्म देती है।

यह विश्व विविध प्रकार की कषायों की क्रीड़ा स्थली है। इनके कारण सुख-दुख होते हैं। फलतः यह विश्व सुख-दुख का मिश्रण है। धर्मतंत्रों का लक्ष्य दुखों का अल्पीकरण एव शून्यकरण है और सुखों का वह्वीकरण या अनंतीकरण है। फलतः, धार्मिकता R कषायो के विलोम अनुपात मे होती है। इस तथ्य को गणितीय रूप में प्रस्तुत करने पर

$$H \propto R \propto 1/p, \quad \text{.........................(2)}$$

6. धर्म-तत्रो ने संसार को चक्रीय भंवर माना है। इसमे कषायो, उपलब्धियो, मूर्च्छा आदि के केन्द्रमुखी बल इस प्रकार कार्य करते हैं जिनसे पुनर्जन्म की प्रक्रिया अविरत बनी रहे। इसके विपर्यास मे, यहां व्रत, तप आदि के भौतिक और भावात्मक बल केन्द्रापसारी के रूप में काम करते है जिनसे उपरोक्त केन्द्रमुखी बलों का प्रभाव सतुलित हो जाये। यह स्पष्ट है कि जब तक केन्द्रापसारी बलो का मान केन्द्रमुखी बलों से अधिक नही हो जाता, उच्चतम सुखमयता या मुक्ति सभव नही होगी। अर्थात्, पूर्ण सुखमयता के लिये,

विरागता आदि के केन्द्रापसारी बल > कषाय आदि के केन्द्रमुखी बल ....(3)

7. जब प्राणी कषाय-मुक्त हो जाता है, तब उसमे ज्ञान, दर्शन, सुख एव वीर्य की अनत-चतुष्टयी प्रकट होती है। सामान्य अवस्था मे, इन गुणो के पूर्णरूप से प्रकट न होने का कारण यह है कि प्राणी सदैव भौतिक क्रियाओ और मनोवैज्ञानिक भावों से सपृक्त रहता है। ये प्रक्रियाये परिवेश मे विक्षोभ उत्पन्न करती है जहा चारो ओर अव–परमाणुक कार्मन-परमाणु व्याप्त रहते हैं। इन क्रियाओ के कारण संसारी जीव चुबक के समान हो जाता है और इन कार्मन-परमाणुओ को आकृष्ट करता है। इसके कारण जीव भारी या लघु कोटि के कर्मबंध करता है। इस कारण ही जीवो की विभिन्न कोटियां और गतियां होती है। जैनो का यह कर्मवाद गतिशील, आशावादी और उत्परिवर्तनशील है। यह अन्य तत्रो के समान नियतिवादी नहीं है। इसमे पुरुषार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मनुष्य को भावात्मक शुद्धता की श्रेणी पर आरोहण और अवरोहण कराता है। यह वर्तमान आदतो के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्राचीन रूप है। यह कर्मवाद वर्तमान

मनोविज्ञान की अनेक शाखाओ का निदर्शक है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, दर्शन, व्यक्तित्व, मनोभावो आदि का प्रयोग–विहीन युग मे सुन्दर विवेचन हुआ है। यह शरीरतत्र और शरीर क्रियाविज्ञान का भी निरूपक है। अब तो इसके रहस्यो को तंत्रिका-विज्ञान के माध्यम से भी समझाया जा सकता है।

8 : जैनतत्र का मूल आधार सर्वजीववाद है। यह संसार की सभी वस्तुओं में मौलिक सजीवता स्वीकार करता है जबतक उन्हें शस्त्र प्रतिहत (उबालना, काटना, जलाना, शस्त्र-क्रिया आदि) न किया जाय। तथापि, ससार के सभी प्राणियो मे यह सजीवता एकसमान नही होती। यह परिवर्ती होती है। यह अजीव पदार्थों में शून्य होती है और मुक्त जीवो मे अनत होती है। अन्य प्राणियों मे इसकी कोटि मध्यवर्ती होती है। जैन तत्र के सिद्धान्त और अनुप्रयोग विभिन्न प्राणियो को अपनी सजीवता की कोटि मे सवर्धन करने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते है। इसके लिए कार्मिक घनत्व D_k (Karmic Density) की कोटि को उच्चतर (पापमय जीवन) से निम्नतर (पुण्यमय जीवन) की ओर प्रवाहित कर उत्परिवर्तित करना आवश्यक है। फिर भी, यह माना जाता है कि सजीवता की उच्चतर कोटि या पवित्रता केवल मानव जीवन के माध्यम से ही सम्भव है। इस जीवन का प्रारम्भ पर्याप्त निम्नतर कार्मिक धनत्व D_k से ही होता है।

9 : जैनतत्र के अनुसार, प्राणियो की चार गतियॉ मानी जाती है-नरक, देव, पशु और मनुष्य। इसमे मुक्त जीवो की गति को पंचम गति भी माना जा सकता है। इन गतियो का आधार कार्मिक धनत्व का क्रमिक अल्पीकरण तथा भावात्मक शुद्धता का वृद्धिकरण ही है। इसका यह अर्थ है कि जीवो की भावात्मक शुद्धता कार्मिक घनत्त्व, D_k के विलोम अनुपात मे होती है। वस्तुत., भावात्मक शुद्धता धार्मिकता के समानुपात में होती है, फलतः धर्मिकता R भी D_k के विलोम अनुपात मे होगी।

अर्थात्, भावात्मक शुद्धता $\propto \dfrac{1}{D_k}$

उच्चतम या अनत सुख की स्थिति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्मिक घनत्व प्रायः शून्य हो जाये जिससे भावात्मक शुद्धता या उच्चतम सुख, अनत हो जाय। फलत. यदि सुख, H को निम्न प्रकार परिभाषित किया जाय,

$$H = \frac{\text{पूरित इच्छाओं की संख्या}}{\text{इच्छाओं की कुल सख्या}} = \frac{D}{D_i} = \frac{D_k}{D_{k_i}} \qquad (5)$$

जहा D इच्छायें (Desires) हैं, Di अनंत इच्छायें (Infinite Desires) है और D_{k_i} अनत कार्मिक घनत्व है। फलतः यदि Di=0, H=∞ इनका मान शून्य से जितना ही कम होगा, H भी उतना ही कम होता जायेगा।

धर्मतंत्र का उद्देश्य सुख H, को अनत बनाना है। सामान्य जन के लिये तो यह स्थिति कल्पनात्मक ही है। फलतः वह यह सोचता है कि H=∞ के लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर प्रयत्न करना ही उसका जीवन लक्ष्य है। उपरोक्त गणितीय समीकरण से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि H को अनत बनाने के लिये इच्छाओ की सख्या D_i को न्यूनतम या शून्य करना सरल (या कठिन ?) है क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति प्रायः पर्याप्त सीमित एव स्थिर-सी होती है। यही तो जैन तत्र का मूल मत्र है। इसी से उपरोक्त समीकरण की सार्थकता सिद्ध होती है। यहां यह ध्यान मे रखना चाहिये कि इच्छायें D और कषाये P समानुपाती है। अतः उपरोक्त समीकरण मे D के स्थान पर P भी रखा जा सकता है।

10. सुख के समान सतोष S, भी जीवन का लक्ष्य है क्योकि सतोष एव सुख की अनुभूति मे सीधा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्रियो के अनुसार, सतोष की परिभाषा निम्न है :

$$\text{सतोष, } S = \frac{\text{इच्छित पदार्थो की प्राप्ति}}{\text{इच्छित पदार्थों की सख्या}} = \frac{S}{Si} \qquad (6)$$

जहा S और S_i वस्तुओ की प्राप्ति (Acquisition) एव उनकी सम्पूर्ण सख्या (Total Materials) है।

उपरोक्त सभी समीकरणो का एक ही उद्देश्य है–एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति। जैन तत्र मे इस जीवन पद्धति को अहिंसक जीवन पद्धति कहा जाता है। जैनो के सभी व्रत, तप, और साधनाये इस जीवन पद्धति के क्रमिक विकास मे सहायक होती है। यह पद्धति तीन रूपो में व्यक्त होती है–मन से, वचन से और काय से। जैनतत्र तीनो ही दृष्टियो से समन्वित रूप से अहिसक जीवन अपनाने का मार्ग सुझाता है। इन तीनो

प्रकार की अभिव्यक्तियो की एकरूपता ही महात्माओ का लक्षण बताया गया है। फिर भी, मानसिक अहिसा अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

अनेक विचारको ने अहिसा पर कायरता आदि के आरोप लगाये हैं। यह तथ्य नही है। सामान्य जीवन मे हिसा चार रूपो मे व्यक्त होती है।–(1) दैनिक कार्य, घरेलू कार्य, (2) औद्योगिक या आजीविका सबधी कार्य (3) विरोध-समाधान एव (4) सकल्पजन्य हिंसा। इनमे सकल्पजन्य हिसा को छोडकर अन्य रूप कम बलबान है। इसलिए जैन तत्र मे सकल्पजन्य हिंसा या मानसिक भावो को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुत, मन ही हमारे धार्मिक जीवन की सद्गति एव दुर्गति मे निमित्त बनता है।

11 अब समस्या यह है कि D या P को इस उपभोक्तावाद के युग मे कैसे कम किया जाय ? इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये जैनो ने सर्वाधिक बुद्धि-सगत, वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक उपाय सुझाये है। ये निवृत्ति-प्रधान विधेयक उपाय है। इनके अन्तर्गत अनेक स्वैच्छिक नियत्रण एव अनेक सकारात्मक गुणो का पल्लवन आता है। इनसे नये कर्मों का आश्रव नियत्रित होता है और कुछ सचित कर्मों की निर्जरा होती है। इससे कार्मिक घनत्व D_k यथेच्छ कोटि तक कम हो जाता है।

महावीर बीसवी सदी के मनोवैज्ञानिक सप्रसारण/विज्ञापन कार्यक्रमो से भी उच्चतर कोटि के विज्ञापक थे। उन्होने अपनी अध्यात्मवादी विचारधारा के विक्रय के लिये वर्तमान ससार को पूर्णत. ही दुखमय उद्घोषित कर दिया जिससे उनकी विचारधारा अभ्यन्तर और बाह्य तप और अन्य उपायो के आश्रय से कार्मिक धनत्व को कम करने के लिये सर्वोत्कृष्ट मानी जा सके।

जीवन को सुन्दरतम बनाने के लिये, उन्होने अपने संघ को प्रजातांत्रिक व्यवस्था दी और उसे चतुर्विध सघ का नाम दिया। इसके अन्तर्गत श्रावक श्राविका, साधु और साध्वी समुदाय लिये गये। उन्होंने बताया कि सामान्य गृहस्थ क्रमश. तीन चरणो मे सुधर सकता है–(1) सामान्यजन या पाक्षिक चरण (2) नैष्ठिक चरण (3) साधक चरण। पाक्षिक श्रावक के च.ग मे व्यक्ति को 8 या 35 (मूल-गुण या मार्गानुसारी गुण) मूलभूत चारित्र के नियमो का पालन करना पडता है जिसमे सात्विक भोजन, भोजन की पद्धति पर नियत्रण (शाकाहार, अवमौदर्य आदि) और ईमानदारी का जीवन

विताना समाहित है। इन मूलभूत चारित्रिक क्रियाओ के परिपालन के बाद जीवन सुधार का दूसरा चरण–नैष्ठिक चरण चालू होता है जिसमें प्रेम और शांति (अहिंसा), सत्य, ईमानदारी, स्वपत्नीव्रत तथा सम्पत्ति के समान वितरण के समान पाच अनिवार्य अणुव्रतों के परिपालन का अभ्यास किया जाता है। ये व्यक्ति और समाज में भाईचारे की भावना का विकास करते हैं। इन पांच अणुव्रतों के अतिरिक्त, सात पूरक व्रत भी होते हैं जिनमें गमन, दिशा, भोग्य सामग्री, आहार के साथ साधु एवं दुखी जनो की सेवा तथा पापमय या उपेक्षणीय क्रियाओं पर नियत्रण भी समाहित है। वस्तुतः ये सात व्रत अणुव्रतों के पालन के प्रायोगिक विस्तार ही हैं। इस सामान्य जैनचर्या मे छह आवश्यक या दैनिक कर्तव्य भी होते है– (1) देवपूजा, (2) गुरु सम्मान (3) शास्त्रों का स्वाध्याय, (4) आहार एव इन्द्रियजन्य विषयो पर नियत्रण (संयम) (5) जप-तप और (6) औषध, शास्त्र (स्कूल, पाठशाला आदि खोलना), अभय (पक्षी अस्पताल, धर्मशाला आदि) और आहार के रूप मे चार प्रकार के समाज हितकारी काम करना। इन कर्तव्यो के साथ आगमो में सामायिक (ध्यान, जप-तप) और प्रतिक्रमण (किये हुये अशुभ कार्यों के लिये आलोचना एव प्रायश्चित एव आगे न करने का संकल्प) को भी सामान्य कर्तव्यो में गिनाया गया है। वस्तुतः ये दोनो भी तप के ही अग है। यही वे कर्तव्य है जिन्होने जैन सघ को परिरक्षित कर रखा है। साथ ही, जैनों की अनेक जनहितकारी प्रवृत्तियो ने भी उनको भारतीय समाज मे प्रतिष्ठित स्थान दिलाया है। ये कर्तव्य जैन तत्र के मनोविश्लेषण एवं समाजशास्त्र से गहनतः संबधित है, यह स्पष्ट है।

व्यक्ति एव समाज के लिये हितकारी इन अणुव्रतों, पूरक व्रतों, छह, आवश्यक दैनिक कर्तव्यों के परिपालन करने पर सामान्यजन एक ग्यारह -चरणी चारित्र श्रेणी (जिसे प्रतिमा कहते हैं) पर आरूढ होता है जिसके परिपालन से पूर्वोक्त व्रतो मे सूक्ष्मता आती है। भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण के प्रति अर्न्तदृष्टि जागती है। इस चारित्र श्रेणी के अंतिम ग्यारहवे चरण पर सामान्य जन आध्यात्मिक विकास के तृतीय चरण–साधक या साधु चरण की ओर चलने लगता है। सामान्य जन पूर्वोक्त व्रतो को सूक्ष्मता से एवं पूर्णता से परिपालन नहीं कर सकता, क्योकि उसे आजीविका और अन्य समस्याओ से जूझना पडता है। इसलिये उसे आंशिक सयमी श्रावक कहते हैं और उसके व्रतों को भी स्थूलव्रत ही कहा जाता है। फिर

भी, इन व्रतों के परिपालन से वह ऐसी दिशा की ओर प्रवृत्त होता है जहां उसकी सासारिक एव अशुभ कार्यों में रुचि कम होने लगती है।

जैनतंत्र में साधु-सस्था को पूर्ण-सयमी कहा जाता है। उसकी मानसिकता शुद्धतर होती है। उसके लिये व्रतो का परिपालन सूक्ष्मतर और व्यापक होता है, अतिक्रम-विहीन होता है। साधु की आतरिक ऊर्जा भी वर्धमान होती है। प्रत्येक साधु को सघ मे विशिष्ट प्रक्रिया एवं परिवार जनो की अनुमति से ही दीक्षित किया जाता है। इनके व्रत और चारित्र सामान्य गृहस्थो के समान ही होते है पर उनके परिपालन में अधिक सूक्ष्मता होती है। इसलिये वे "महाव्रत" कहलाते है। उदाहरणार्थ, सामान्य गृहस्थ की अहिंसा मे दृश्य जीवो का पीडन-निरोध या स्थूलता समाहित है जबकि साधु की अहिंसा मे दृश्य, अदृश्य और सूक्ष्म-सभी प्रकार के जीवो का-यहां तक कि एकेन्द्रिय वनस्पतियों का भी हिसन वर्जित है। साधुओ को चलने-फिरने, बात-चीत करने, उपकरणो को उठाने-धरने, मलोत्सर्जन करने तथा आहार ग्रहण करने मे बहुत सावधानी बरतनी पडती है। उन्हे अपनी मानसिक एव शारीरिक क्रियाओ मे भी सचेतता बरतनी पड़ती है। उन्हे, साधु अवस्था मे अनेक प्राकृतिक उपसर्गो एव क्षुधा-तृषा आदि बाईस भौतिक या मानसिक परीषहो को सहने का अभ्यास करना पडता है। इन सावधानियों के समुचित अभ्यास को मानसिकत प्रबल बनाने के लिये (i) उत्तम क्षमादि दस धर्मो का पालन–जो अणुव्रतो के ही विस्तार हैं, (ii) अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओ का चितन, (iii) अनेक अभ्यतर और बाह्य तथ्यो का अभ्यास जिनमे कुछ और आहार नियत्रण के उपाय रहते है जो दीर्घजीविता के लिए आवश्यक है और जिनसे कठोर साधना करने की क्षमता प्राप्त होती है, (iv) विभिन्न प्रकार के आसन और ध्यान तथा (v) समता-उत्पादी चरित्र के अनेक रूपो का अभ्यास भी करना पडता है। इन अभ्यासो से न केवल अंतरग ऊर्जा की वृद्धि ही होती है, अपितु उसका सान्द्रित एक-दिशीकरण भी होता है जिससे व्यक्ति मे ईश्वरत्व के गुणो का पल्लवन होता है। सक्षेप-मे, शास्त्रो मे बताया गया है कि प्रत्येक साधु को चौदह-चरणी अध्यात्म विकास की श्रेणी पर आरूढ़ होने के लिये 28-36 गुणो को, अनुभव से, विकसित करना पड़ता है जिससे अन्त मे उसे उच्चतम सुख की प्राप्ति होती है।

चाहे गृहस्थ हो या श्रावक, उसके सभी अनुपालन व्यक्तिगत श्रेणी में

आते हैं क्योंकि व्यक्ति ही समाज का मूल होता है। समाज व्यक्तियों का समुदाय ही तो है। यदि व्यक्ति भौतिक एव भावात्मक चरित्र में विकसित है, तो उनसे बने समाज में भी अच्छे गुणों की गरिमा विकसित होगी। साथ ही, समाज मे साधुओं और गृहस्थों का अनुपात प्रायः 4-5/10,000 के रूप मे बहुत समय से स्थिर रहा है। इससे समाज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन मे साधुओं की महत्ता स्पष्ट होती है।

12. व्रतों का अभ्यास करते समय जैन गृहस्थों को जैनों के विशिष्ट आध्यात्मिक गणित का अनुभव होता है जहां गुण-सख्याओ का योग उनके गुणनफल के प्रभावी रूप में होता है। यह स्थिति व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक, तीनो स्तरो पर पाई जाती है .

(अ) सम्यक् (दर्शन + ज्ञान + चारित्र) = सम्यक् (दर्शन x ज्ञान x चारित्र)..(7)

(ब) श्रम + स्वावलबन + समानता = श्रम x स्वावलबन x समानता..(8)

(स) अहिसा + अनेकात + अपरिग्रह = अहिसा x अनेकात x अपरिग्रह या, अ + अ + अ = अ^3..(9)

13. जैनो को वर्गीकरण, परिमाणीकरण एव वर्हिवेशन प्रक्रियाओ का विशारद माना जाता है। धार्मिक क्षेत्र मे, उन्होने मूलभूत हिसा के 108 भेद बताये है और विभिन्न व्रतो के 243 अतीचार या अतिक्रम बताये है। इसके विपर्यास मे, उन्होने सद्गुणो का भी वर्गीकरण किया है। उन्होने पाच परमेष्ठियो के 108 गुण बताये है। इन

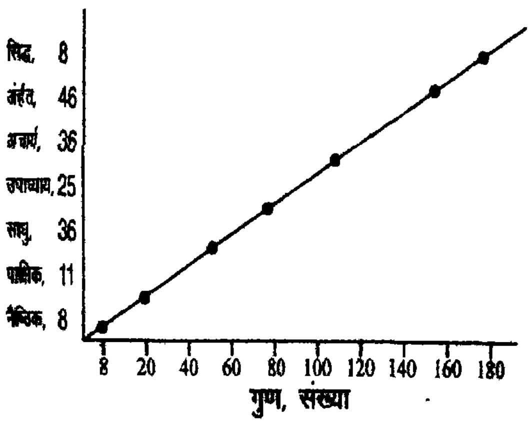

चित्र 1- मनुष्य की विविध अवस्थाओं में गुण

गुणो के स्मरण एव पल्लवन के लिये अथवा पूर्वोक्त 108 दोषो के निवारण

के लिये 108 गुटिका-वाली माला का जाप, इसीलिये, जैनतत्र में बहुत लोकप्रिय है। गृहस्थो एव पाच परमेष्ठियो के कुल 170 गुण बताये गये है जो एक रैखिक चित्र बनाते है। साथ ही, आचार्यों ने मनोविश्लेषण पूर्वक गणित की प्रक्रिया से 18000 शील और 84 लाख गुण बताये हैं। यह परिमाणीकरण की प्रवृत्ति, निश्चित रूप से, जैन तत्र को विश्वसनीयता प्रदान करती है। इससे यह भी सकेत मिलता है कि जैन आचार्यों ने सुखवर्धक गुणो की ओर, पापवर्धक दोषों की तुलना में, अधिक ध्यान दिया है। यह प्रवृत्ति जैन तत्र के उस उद्देश्य के अनूकूल है जिसके अनुसार वह व्यक्ति, समाज और सभी प्राणियो का सुख सम्वर्धन चाहता है। यह उद्देश्य ही इस तत्र का सर्वोदयी रूप है।

3. जैन तंत्र की वैज्ञानिकता

सभी भारतीय तत्रो मे सामान्यत. विद्या की एक ही देवी—सरस्वती मानी जाती है जो भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञानो की एकता की प्रतीक है। यह भौतिक विज्ञानो और अध्यात्म प्रमुख धर्म मे विशेष अंतर नही करती। वे एक ही अस्तित्व के दो रूप है। इसीलिये विज्ञान को भी धर्म या दर्शन के समान मानव की एक विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति माना जाता है जिसमे निरीक्षण, परीक्षण, निर्णय एव अभिलेखन या स्मरण की प्रक्रियाये काम करती है। ये प्रक्रियाये जैन दर्शन मे दृश्य जगत के ज्ञान के लिये वर्णित अवग्रहादि चार चरणो के अनुरूप है। विज्ञान की बस्तुनिष्ठता, व्यक्ति निरपेक्षता और पुनरावर्तनीयता उसे विश्वसनीयता प्रदान करती है। वैज्ञानिक विधियो मे मात्र व्यक्तिनिष्ठता नही होती, इसीलिये वह सार्वत्रिक रूप से अनुप्रयोजनीय होता है। यद्यपि धर्म भी सार्वजनीनता की ओर लक्षित होता है पर यह मनोवैज्ञानिक एव नैतिक क्षेत्र को प्रमुखता देता है। फिर भी, यह कहना चाहिये कि यह भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रभावी सफलता के समान आध्यात्मिक क्षेत्र मे सफल नही हो पाया है। तथापि यह स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म दो दुहिता-तंत्र है और एक दूसरे के पूरक हैं। फिर भी, विज्ञान जिज्ञासु की मनोवृत्ति, पूर्वाग्रहरहितता, परपरा एवं विश्वासो के प्रति विमोहता, उपयोगी ज्ञान के प्रति आदरभाव एव स्वतंत्र साहसिकता के कारण धर्म से विशिष्टता प्रदर्शित करता है। विज्ञान के इस दृष्टिकोण ने परम्परागत ज्ञान के प्रति अनेक क्षेत्रो मे आस्था जगाई है। इसी से यह

अभ्युक्ति भी चल निकली है कि विज्ञान के बिना धर्मतंत्र अंधा माना जाता है। इस प्रकार "विज्ञान" धर्मतन्त्रो के अन्तर्दर्शन के लिये आंख का काम करता है। वर्तमान युग वैज्ञानिक धर्म मे ही रुचि रखता है।

अ. जैन तंत्र में वैज्ञानिक दृष्टि का पल्लवन

विज्ञान का क्षेत्र 'क्या है और क्यो है' मे सीमित हैं जबकि धर्मतन्त्रों का क्षेत्र "क्या होना चाहिये" की दृष्टि देती है। इस तरह, विज्ञान धर्म के क्षेत्र को उपगमित करता हुआ प्रतीत होता है। आइस्टीन ने सच ही कहा है थोडा-सा विज्ञान हमे धर्म से दूर करता है लेकिन कुछ अधिक विज्ञान हमें पुनः धर्म की ओर ले जाता है।

जैनतत्र अनीश्वरवाद की धारणा से प्रारंभ होता है। इसलिए इसमे किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यह जगत की धटनाओं और समस्याओ के विवेचन मे वैज्ञानिक क्रियापद्धति अपनाता है और अपनी वैज्ञानिकता व्यक्त करता है। वस्तुतः जैन यह अनुभव करते है कि मानव पहले वैज्ञानिक है क्योकि वह अपना जीवन बाह्य जगत के प्रथम दर्शन से प्रारभ करता है। वह धार्मिक तो बाद मे होता है जब वह अन्तर्जगत की ओर ध्यान देता है। जैन आचार्यों ने प्रारम्भ से ही व्यक्ति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के प्रयास किये हैं। इसकी पहली पवित्र पुस्तक "आचाराग" मे कहा गया है कि आचार्य दृष्ट, श्रुत, अनुभूत एवं सुविचारित सत्य को कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि और प्रज्ञा के माध्यम से सीखने के लिये जिज्ञासु बनना चाहिये। उत्तराध्ययन मे भी धर्म के सिद्धान्तों को प्रज्ञा एव बुद्धि से परीक्षित कर स्वीकृत करने की बात कही है। कुद-कुद ने भी अपने अनुभूत सत्य को अन्यथा पाये जाने पर सशोधित करने की बात कही है। समतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर, हेमचन्द्र और आशाधर आदि ने भी विभिन्न युगो मे यही सदेश दिया है। उन्होने तो शास्त्रों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त भी बताये हैं। अच्छे शास्त्र अविसवादी होने चाहिये, प्रत्यक्ष (पारमार्थिक ओर साव्यवहारिक) और अनुमान (तर्क बुद्धि आदि) से बाधित नहीं होने चाहिये। उन्हे यथार्थ विवेचक, असंदिग्ध और विरोध रहित होना चाहिये। वे यह भी आशा करते है कि प्रत्येक श्रावक को बुद्धिमान एव प्रज्ञाबान होना चाहिये। जैनतत्र की यह परीक्षा-प्रधानी वृत्ति ही इसके अनुयायियों के दृढ विश्वास का मूल आधार रही है और यही

इसकी परिलक्षित दीर्घजीविता का कारण है।

इस वैज्ञानिक दृष्टि के पल्लवन के साथ ही, दीक्षित ने इसके सिद्धान्तों के विकास को जानने के लिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने का एक नवीन सुझाव दिया है। उन्होने इस मत के परिपोषण में अनेक विचारो के विकास को निर्देशित भी किया है।

इस प्रकार, जब जैन आचार्य परीक्षा-प्रधानी दृष्टि के उद्‌घोषक रहे हैं, तब यह कैसे संभव है कि जैन तंत्र वैज्ञानिक न हो ? यही कारण है कि इस सदी के अनेक विद्वानों ने इसके सिद्धान्तो को वैज्ञानिक विधि एवं भाषा मे विश्लेषित किया है। उन्होने बताया है कि यह तत्र केवल धर्मतंत्र ही नहीं है, अपितु समग्र विज्ञान है जो समस्त विश्व को समेकीकृत रूप में मानने के लिये वैज्ञानिक आधार देता है। इसके सिद्धान्तों को आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओ के परिप्रेक्ष्य मे—कम से कम गुणात्मक रूप में तो पुनर्व्याख्यायित किया ही जा सकता है। कुछ प्रकरणो मे तो यह उनसे आगे भी जाता है और ज्ञान के क्षेत्र मे अपना विशिष्ट योगदान करता है। यहा हम जैनतंत्र की वैज्ञानिकता को निरूपित करने वाले कुछ प्रकरण देने का प्रयास कर रहे है। ये प्रकरण प्रायः भौतिक जगत से ही संबंधित है।

वस्तु तत्व की प्रकृति के आधार पर उसकी परीक्षा व्यक्तिनिष्ठ प्रतिभा या स्वानुभूतिजन्य ज्ञान से की जा सकती है अथवा तर्क और बुद्धि के माध्यम से वस्तुनिष्ठ रूप मे की जा सकती है। सिद्धसेन ने इस परीक्षा विधि को अच्छी तरह व्याख्यायित किया है और सुझाया है कि जगत में कुछ ही वस्तुये या तत्व ऐसे है जिनका परिज्ञान शास्त्रो या अतींद्रिय अनुभव से होता है। फिर भी, एक ऐसा समय आया जब ये कुछ वस्तुये या तत्व (आत्मा, मोक्ष-आदि) ही प्रधान हो गये। इस प्रवृत्ति ने सामान्य जन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रभावित किया और धर्मतंत्र बौद्धिक राजपथ से विचलित होकर श्रद्धापथ की ओर उन्मुख हो गया। यह स्थिति अब भी चल रही है। इससे वर्तमान मे धार्मिक आस्था मे क्षरण के लक्षण प्रकट होने लगे है। जैनतत्र की वैज्ञानिक दृष्टि की पुन. स्थापना ही उसे बलवान बना सकती है।

ब. ज्ञान का सिद्धान्त : बहु-दृष्टि परीक्षण का सिद्धान्त : अनेकांतवाद

जैन आचार्यो ने सदैव यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक वस्तु (भौतिक या अमूर्त) का अध्ययन अनेक दृष्टिकोणों से किया जाय जिससे इसके विषय

मे समग्र ज्ञान संभव हो सके। शास्त्रीय विवरणों के अनुसार, अध्ययन के इन दृष्टिकोणों की संख्या अब 130 तक चली गयी है। इस संख्या के आधार पर वस्तु के विषय में समग्र ज्ञान पाने की जटिलता स्पष्ट है। यह वस्तु स्वरूप की व्यक्तिनिष्ठ जटिलता का संकेत है। इतने अधिक कारकों के कारण इस कंप्यूटर युग के वैज्ञानिक भी इसका समग्र अध्ययन नहीं कर सकते। साथ ही, विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करते समय कभी कभी एक ही वस्तु के विषय में विरोधी-से लगते विवरण भी मिलतें है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति किसी का पिता, भाई चाचा, पति, ससुर और साला होता है। यह तथ्य भिन्न-भिन्न सबंधों की दृष्टि से ही सत्यापित किया जा सकता है (पुत्र, पत्नी, भाई, इत्यादि दृष्टियों से)। इस प्रकार प्रत्येक सबध सापेक्षतः ही सत्य हैं, पूर्ण सत्य नही है। फलतः, प्रत्येकवस्तु का विशिष्ट स्वरूप सापेक्षता पर आधारित होता है। इसका समग्र विवरण हम अपनी भाषा के माध्यम से नहीं दे सकते। इसलिए हमारा ज्ञान सापेक्ष ज्ञान होता है और वह अंशतः ही सत्य हो सकता है। इस आंशिक सत्यता के निरूपण की विधि को जैनतत्र मे नयवाद कहा जाता है। चूंकि वस्तु के अध्ययन के लिये अनेक दृष्टिकोण होते है, अत. नय भी अनेक होते है। इन नयो से प्राप्त ज्ञानो के समग्र परिकलन की दृष्टि को स्याद्वाद या अनेकातवाद कहते है। यह सापेक्षतावादी वास्तविकता जैनतत्र के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की मूलाधार रही है। यह एकातवादी दृष्टिकोणो के विपर्यास मे जाती है। गणित की भाषा मे,

समग्र वस्तु स्वरूप = स्याद्वाद = संकलित नय = $\sum$ नय.......10

फलत. जैनतत्र के अनुसार, हमारा सामान्य ज्ञान सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नही। यह सर्वज्ञ के लिये तो सभव है पर उसके लिये भी उसकी भाषिक अभिव्यक्ति कठिन होगी।

यह बताया गया है कि किसी भी वस्तु के विषय मे सामान्य ज्ञान की प्राप्ति अधिकतम सात दृष्टियो से की जा सकती है। इस दृष्टि समुच्चय को सप्त भगी कहा जाता है। कोठारी ने बताया है कि यह सिद्धान्त क्वाटंम यात्रिकी के अधिस्थान सिद्धान्त से समर्थन पाता है जहा वास्तव मे सप्तप्रकारी विवरण ही संभव होता है। इस जैन सिद्धान्त मे परिमाणात्मकता न भी हो, पर इसकी बौद्धिक गभीरता एव यथार्थता असदिग्ध है। यह

बहुदृष्टिकोणी विधि बोहर के पूरकता सिद्धान्त का भी आधार है जैसा मुनिश्री और कोठारी ने स्पष्ट किया है। इसके बावजूद भी, जैन वैज्ञानिक अनिश्चायकतावाद के सिद्धान्त से आगे चले गये है, जब वे यह कहते हैं कि वस्तुतत्व का वास्तविक स्वरूप वर्णनातीत या अवक्तव्य है। इस तथ्य को उन्होने सप्तभगी के चौथे विकल्प के रूप में स्वीकार किया है। अनेकातवाद की इस अवधारणा को गणितीय रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। यदि वास्तविक सत्य T (Truth) हो और दृष्टिकोणों को P (Aspects) मानलिया जाय, तो सत्य अनत दृष्टिकोणों का सम्मलित रूप होगा, अर्थात्

$$\int_{\infty}^{+\infty} P\,dp = T = 0 \quad \ldots \quad (11)$$

इससे यह सकेत मिलता है कि वास्तविक सत्य तो एक ही है पर वह अवक्तव्य (0, शून्य) है। इसी के विकल्प के रूप मे, सप्तभगी के आधार पर एक अन्य समीकरण भी दिया जा सकता है :

$$\int_{1}^{7} P\,dp = T = 24 \quad \ldots \quad (12)$$

जहा वस्तुतत्व के 24 पैरामीटर वास्तव मे समाधेय नही है। इससे भी सत्य की अवक्तव्यता प्रकट होती है। हाल्डेन और महलनबोईस ने साख्यिकीय दृष्टि से भी यह सिद्ध किया है कि वास्तव मे वस्तु के अध्ययन की दृष्टिया सात ही सम्भव हैं :

$$3_{c_1} + 3_{c_2} + 3_{c_3} = (3+3+1) = 7 \quad \ldots \quad (13)$$

लेनिन के समान क्रातिकारियो ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है। इस विषय मे विशेष जानकारी के लिये पाठको को मुनिश्री, मुखर्जी, कोठारी एव हालडेन की पुस्तके और शोध पत्र पढ़ना चाहिये।

ज्ञान की सापेक्षता और प्रत्येक दृष्टिकोण की आंशिक सत्यता के सिद्धान्त के अनेक लाभ स्पष्ट है। इससे व्यक्ति और समाज मे सहिष्णुता

की भावना विकसित होती है, एक-दूसरे को समझने का भाव उत्पन्न होता है। यह शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिये बौद्धिक भूमिका प्रदान करता है। अब तो इसकी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उपयोगिता के भी विविध रूप सामने आ गये हैं।

ज्ञान की सापेक्ष प्रकृति के प्रकरण में यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह मात्र इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान है। इसे मति या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त, ज्ञान के कुछ अतीन्द्रिय रूप भी होते हैं जिन्हे शास्त्रो में अवधि (क्लेयरवायंस), मनःपर्यय (टेलीपेथी) और केवल (एब्सोल्यूट) ज्ञान कहा जाता है। इनके अतिरिक्त, प्राचीन आचार्यों एवं केवलज्ञानियो द्वारा रचित आगम या शास्त्र भी ज्ञान के स्रोत है और वे भी श्रुत ज्ञान के रूप में माने जाते है। शास्त्रो में श्रुत की परिभाषा एव प्रामाणिकता का अच्छा विवरण है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का उत्तरवर्ती रूप है। इस प्रकार, जैन तत्र मे पाच ज्ञानों की परम्परा है। इनमें केवल ज्ञान को छोडकर अन्य चार ज्ञान तो प्रयोग पुष्ट भी हो गये हैं (दो पूर्णत. और दो अंशतः)। इनके आधार पर केवल ज्ञान की सभावना बहिर्वेशित की जा सकती है। हा, इन्द्रियज ज्ञान में अब सूक्ष्म या स्थूल उपकरण-जन्य ज्ञान भी समाहित होता है।

स. जैन तर्कशास्त्र

जैन ग्रन्थो में इन्द्रियो और उपकरणो के माध्यम से होने वाले ज्ञान के अनेक रूप बताये गये हैं। इनमें स्मरण (मेमौरी), प्रत्यभिज्ञान (रिकग्नीशन) और तर्क ज्ञान (लोजिक) महत्वपूर्ण है। यह माना जाता है कि भौतिक जगत की घटनाओ के ज्ञान मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष इन्द्रियों के निरीक्षण और उनकी बौद्धिक एवं तर्कशास्त्रीय परीक्षा महत्वपूर्ण है। यद्यपि शास्त्रों में कहा गया है कि यह ज्ञान अनुमानित ही होता है, फिर भी सामान्य जन के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इससे अच्छा विकल्प नही है। इस ज्ञान के चार वैज्ञानिक चरणों का सकेत ऊपर किया जा चुका है। इस ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति परोक्ष या तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करता है। जैन तर्कशास्त्रियों ने निरीक्षणों से निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अनुमान की पंच प्रकारी विधा (सिलोगिज्म) विकसित की है। कोई व्यक्ति पवर्त पर धुवां देखता है। इस

निरीक्षण के आधार पर इस पच चरणी विधा के अनुप्रयोग से वह पर्वत पर अग्नि के होने का निम्न चरणो मे अनुमान लगा लेता है:

1. पर्वत पर अग्नि है (प्रतिज्ञा, विश्लेषण)
2. क्योकि वहा पर धुवां दिख रहा है (निरीक्षण, हेतु, कारण)

3a. जहां जहा धुवा होता है, वहां वहा अग्नि होती है, जैसे रसोई घर (समर्थक निदर्शन, निरीक्षण)

3b. जहा धुवा नही होता, वहा अग्नि भी नही होती, जैसे पानी का तालाब (विरोधी निदर्शन, निरीक्षण)

4 चूंकि पर्वत पर धुवा दिख रहा है (विश्लेषण, अनुप्रयोग)

5 इसलिये पर्वत पर अग्नि है (निष्कर्ष, अनुमान)

यह न्यायशास्त्रीय पुरातन युग का उदाहरण है जो आज के धुवारहित गैस या विद्युत भट्टियों के युग में व्यभिचारी या अनैकांतिक दोष के कारण विचित्र-सा लग सकता है। न्यायशास्त्र के अनेक प्राचीन उदाहरणो की नियति भी आज ऐसी ही हो सकती है। तथापि उन दिनो धुवा और अग्नि के सह-चरित होने का तथ्य निरीक्षित था। यह पचचरणी निष्कर्ष-निर्धारण प्रक्रिया निरीक्षण, विश्लेषण और निर्णय के वर्तमान वैज्ञानिक चरणो को निरूपित करती है जो आज भी सह-सबधित तत्रो में अनुप्रयुक्त होती है। प्राचीन जैन आचार्यो ने जो ज्ञान राशि उपलब्ध की थी, उसका आधार यही वैज्ञानिक तर्कशास्त्र विधि थी। यह तत्कालीन युग के लिये वैध माननी चाहिये। तथापि इसकी वैधता ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही होगी।

भारत मे पूर्व--मध्यकाल से उत्तर मध्यकाल तक तर्कशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। इसमे जैनो का महत्वपूर्ण योगदान है। इस विकसित तर्कशात्र मे अनेकातवाद के उपयोग से, जैनो ने अनेक शास्त्रार्थ जीते और अपने को एकान्ती मान्यताओ के विपर्यास मे मध्यमार्गी बनाया। निश्चय और व्यवहार दृष्टियों को अपनाकर उन्होने आत्मा की मूर्तता-अर्मूतता, शब्द की नित्यानित्यता, परमाणु की द्विविधता आदि के व्यावहारिक सिद्धान्तों का सपोषण किया। तर्कशास्त्र ने जैन तत्रो को वैज्ञानिकतः सूक्ष्म निरीक्षक बनाया एव बौद्धिकतः तीक्ष्ण विश्लेषक भी बनाया। जैनो के तर्कशास्त्र की आज भी महती प्रतिष्ठा है। यह उनकी वैज्ञानिकता का परिचायक भी है।

द. सैद्धान्तिक अवधारणायें और भौतिक जगत की घटनायें

भौतिक जगत से संबंधित घटनाये, मुख्यतः, दो प्रकार की होती है—कुछ तो दृश्य होती है जैसे छह द्रव्य, जीवो का इन्द्रिय-आधारित वर्गीकरण, इन्द्रियो की कार्यपद्धति, ध्वनि की उत्पत्ति और संप्रसारण और पदार्थो एवं ऊर्जा के विविध रूप आदि। कुछ घटनाये ऐसी होती है जिन्हे हम अदृश्य भी कह सकते हैं। इन्हे हम अवधारणात्मक, प्रातिभ या वौद्धिक विचारात्मक भी कह सकते हैं। इनके अतर्गत कर्मवाद, परमाणुवाद आदि समाहित होते है। यह पाया गया है कि समकालिक दृष्टि से जैनो ने अवधारणात्मक क्षेत्र मे अधि-वैज्ञानिकता का प्रदर्शन किया है। इसके विपर्यास मे, वे दृश्य घटनाओ के विवरणो मे उतने सफल नही माने जा सकते। फिर भी, यह महत्व की बात है कि उन्होंने उपकरणविहीन युग मे अनेक दृश्य घटनाओ की व्याख्या का प्रयास किया है।

(i) परमाणुवाद और मौलिक कण

अवधारणात्मक विचारो के क्षेत्रो मे जैनो ने सम-सामयिक दृष्टि से ससार को उत्तम कोटि का परमाणुवाद प्रस्तावित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे परमाणुओ के गुणो के निरूपण मे पर्याप्त प्रगत विचारक थे। इन गुणो मे उनकी वैद्युत प्रकृति, गत्यात्मक गुण, अविनाशिता एव उनके सयोग के नियम-जो वर्तमान सयोजकता सिद्धान्त के समतुल्य हैं-मुख्य है। बहुतेरे विद्वान, जैन परंमाणु के अविभागी होने की अवधारणा को अब भी मानते है और वे उसे इलेक्ट्रान से लेकर क्वार्क तक की समकक्षता प्रदान करते रहे है। लेकिन सामान्य परमाणु सयोगो की ऊर्जात्मक आवश्यकताये यह सकेत देती है कि इन परमाणुओं को अन्य समकालीन दार्शनिको के द्वारा मान्य परमाणुओ के समकक्ष मानना चाहिये। वैज्ञानिक सिद्धान्त और अवधारणाये नये विचारो और तक़नीको के कारण सदैव परिवर्धित होने की क्षमता रखती हैं। यह क्षमता, सामान्य विचारधारा के विपर्यास मे, अनेक धार्मिक अवधारणाओ मे भी पाई जाती है।

परमाणु के अविभागी मानने की अवधारणा की कठिनाईयों को ध्यान मे रखकर ही जैनो ने परमाणु के दो रूप माने—(1) आदर्श, या कारण परमाणु और (2) व्यवहार या कार्य परमाणु। इनमें व्यवहार परमाणु तो विभाजित हो सकता है लेकिन आदर्श परमाणु नहीं। सम्भवतः परमाणु संबंधी शास्त्रीय

विवरण व्यवहार परमाणु की निरूपक हो। यही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि जैन कर्मवाद के कर्म परमाणु या कर्म वर्गणायें आदर्श परमाणु से वृहत्तर हो और उनके समुच्चय से निर्मित हों जिन्हें मर्डिया ने कार्मन-कण कहा है। ये कार्मन कण वर्तमान मौलिक या अव-परमाणुक कणों में एक नये कण के रूप मे सहयोजित किये जाने चाहिये क्योंकि इनके विशिष्ट गुण होते हैं। ये सजीव तंत्रो से सयोजित होते हैं। इसी प्रकार, फाइनवर्ग ने मन के भौतिक स्वरूप को व्यक्त करने के लिये उसको "माइडोन" कणो से निर्मित बताया है।

(ii) ऊर्जाओं का अन्योन्य परिवर्तन

जैन शास्त्रों मे ध्वनि, प्रकाश, ऊष्मा, ज्योत्स्ना आदि के रूप मे अनेक ऊर्जाओ का अनुसूचन एव विवरण है। ये ऊर्जाओ को कणिकामय मानते है यद्यपि वे सूक्ष्मतर होती है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ और ऊर्जा–एक ही द्रव्य के दो रूप है। इससे यह भी सकेत मिलता है कि जैनो की ऊर्जाओ की कणिकामयता की धारणा अठारहवी सदी के न्यूटन के युग के समकक्ष है। सापेक्षतावाद के नए सिद्धान्त ने इस पुरातन धारणा मे किंचित् परिवर्तन किया है और ऊर्जाओं और कणो की प्रकृति को द्वैती माना है। इससे ऊर्जाओ के अन्योन्य-रूपातरण की धारणा को बल मिलता है जिसमें उच्च ऊर्जा का व्यय होता है। पदार्थ और ऊर्जा की कणिकामयता की जैन अवधारणा मे इस अन्योन्य-रूपातरण के बीज तो समाहित हैं ही।

(iii) प्राकृतिक बल

जैनो की यह मान्यता है कि प्रत्येक सजीव या निर्जीव तत्र मे एक सहज आन्तरिक बल या ऊर्जा निहित रहती है। इसके अतिरिक्त वे तीन बल और मानते है–(1) मनोबल, आतरिक या आत्मबल (2)वचनबल या वाक्शक्ति और (3) कायबल या भौतिक बल। ये बल भी सजीव और निर्जीव–दोनो तत्रो मे पाये जाते है और अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होते हैं। इनमे मनोबल तो सजीव तत्रो मे ही पाया जाता है, पर अन्य दोनों बल दोनो तत्रो मे पाये जाते है। वचन बल को ध्वनि या वचनो के रूप में लिया जा सकता है। यह आज के क्रियात्मक बल का एक रूप है। इसके एक रूप– मत्र बल से भी सभी परिचित हैं। यह वरदान और अभिशाप, सिद्धि ओर विनाश-सभी रूपो मे व्यक्त होता है। भौतिक बल दो प्रकार के बताये

गये हैं–(1) कार्यकारी और (2) विरोधी। जैनों में क्षयकारी, उपशम य दमनकारी एवं आकर्षण बल भी माने गये हैं। ये मनोबल और कायबल (तप आदि) के समवेत परिणाम हैं। जैन तत्र मे वस्तुओ के पतन में सहायक गुरुत्व बल का भी परोक्ष संकेत है। इन्होंने एक अन्य भौतिक बल–कर्म शक्ति को भी मांना है जो हमारी भौतिक एव मावात्मक क्रियाओं तथा परजन्म के लिये उत्तरदायी है। कर्मबल S (Karmic force) और प्रभाव R (Effect) के अध्ययन से वीवर -फ्रेशनर ने एक आनुभविक समीकरण प्रस्तुत किया है

$$S = K \ln R \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (14)$$

जहां विशिष्ट प्रेरको से विशिष्ट परिणामों का संकेत मिलता है। यह समीकरण मध्यम परिसर के प्रेरकों के प्रभाव पर सत्यापित किया गया है। इससे कर्मबल की मनोवैज्ञानिकता विश्वसनीय बन गई है। इससे यह सभावना बलवती हो गई है कि कर्मवाद के व्यापक प्रभावो की मनोवैज्ञानिकता की गणितीय व्याख्या की जा सकती है। इस दिशा में गहन चिंतन और प्रयत्न आवश्यक है।

जैनो का कर्मबल (या क्रियाये) कर्मों के आस्रव और बध के लिये तो उत्तरदायी है ही, वह एक अन्य महत्वपूर्ण सासारिक प्रक्रिया–जीवों के प्रजनन, जीवन-सचरण के लिये भी उत्तरदायी है। यह कहा जा सकता है कि कार्मिक बलो का घनत्व D_k उच्चतर गतियों D_y (Destinity)-नरक, देव, तिर्यन्च और मनुष्य–के विलोम अनुपात मे होता है, अर्थात्

$$D_k \propto \frac{1}{D_y}, \text{ या } D_y \propto \frac{1}{D_k} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots (15)$$

इस समीकरण से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य गति अल्पतर कार्मिक घनत्व के कारण मिलती है। इसी गति से उच्चतम सुख की दशा प्राप्त की जा सकती है। प्राणि जगत का प्रत्येक घटक अपनी गति को, अपने कार्मिक धनत्व के संचय के अनुपात मे, उच्चतर या निम्नतर गति मे अपर जन्म में उत्परिवर्तित कर सकता है। इस दृष्टि से जैन कर्मवाद डार्विन के विकासवाद का किंचित् समुन्नत मनोवैज्ञानिक रूप है जहां

केवल जीव की उच्चतर दशा का ही प्रावधान है। साथ ही, जैन-तंत्र विभिन्न सजीव स्पीशीज का निम्नतर से उच्चतर स्थिति की ओर क्रमिक विकास की अवधारणा का सपोषण भी नही करता। उसके अनुसार, विभिन्न स्पीशीज अनादिकाल से विद्यमान है।

जैनो मे कर्मबल के सम्बन्ध में एक अन्य अवधारणा भी पाई जाती है। वह यह है कि यह बल प्रायः व्यक्तिनिष्ठ ही होता है। नयी खोजो से "समूह निष्ठता" की धारणा भी प्रवीजित हो गई है। इस पर गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

इसके विपर्यास मे, वैज्ञानिक केवल भौतिक बलो का ही विवरण देते है–गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत्चुम्बकीय और न्यूक्लीय बल। यदि बलों को ऊर्जा के समकक्ष माना जाय, तो जैनो ने केवल न्यूक्लीय ऊर्जा को सकेतित नहीं किया है यदि इसे आतरिक ऊर्जा के एक रूप से भिन्न माना जावे। अन्य बलो का प्रत्यक्ष/परोक्ष सकेत जैन शास्त्रो मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, जैनो के मनोबल और कर्मबल की मान्यता से बल सबंधी उनकी मान्यता वैज्ञानिको की तुलना मे अधिक समग्र हो गई है।

(iv) आध्यात्मिक या नैतिक विकास का विज्ञान

सामान्यत. जैन तत्र मे जीवन का अर्थ मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाशीलता से है। यह मनोवैज्ञानिको की द्विधा-मानसिक एव कायिक क्रियाशीलता के विपर्यास मे है। यह क्रियात्मकता प्राणियो में सहजतः विद्यमान आतरिक ऊर्जा की अभिव्यक्त की विविधरूपता का प्रतीक है। लेकिन यह ऊर्जा पूर्णतः अभिव्यक्त नही हो पाती क्योकि सासारिक जीवन मे वह सदैव वीर्यान्तराय (ऊर्जा की अभिव्यक्ति मे विघ्नकारी) कर्म से आवरित रहती है। यह कर्म सचित (बद्ध), प्रारब्ध (वर्तमान में प्रकट) और क्रियमाण (वर्तमान कर्म) के रूप में जीव के ऊर्जा एव अन्य गुणो को विकसित नही होने देता। यह क्रियात्मकता दस या सोलह प्रकार की सहज या अर्जित सज्ञाओ (आहार आदि, कषाय आदि, ज्ञानादि) के कारण होती है जो आनुवशिक, अन्तर्ग्रहीत आहार, हार्मोन स्राव, परिवेश एव मनोभाव आदि भौतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो से विविध कोटि की होती है। इसकी दो कोटिया प्रमुख है–शुभ और अशुभ। शुभ क्रियात्मकता स्वय के लिये तथा समाज के लिए हितकारी होती है। अशुभ क्रियाओ की

प्रक्रिया इससे विपरीत होती है। जैनों ने इन जीव क्रियाओं को इस महत्वपूर्ण कारक (अथवा कर्मवाद) से सह-सबंधित किया जो भूतकाल से भी सहचरित रहते है। जीव क्रियाओ की इस विविधता एव तीव्रता ने जैनो को इसे चतुःस्पर्शी और अदृश्य कर्मो के कारण माना है। ये कर्म और अन्य घटक मानव की प्रकृति और उसके राग, द्वेष, क्रोधादि मनोभाव, सुख, दुख आदि से संबंधित व्यवहारो और अनुभूतियो को प्रभावित करते हैं। मन को अत्यत बलशाली व चचल माना जाता है जो इन क्रियाओ का मूल कारण माना जाता है। धर्मतत्र सुखवर्धक शुभ एव पवित्र कार्यों और व्यवहारों का प्रोत्साहक है। इसलिये यह मन को नियत्रित कर उसे शुभतर दिशाओं मे प्रवृत्त करने की विधिया बताता है।

क्रियात्मकता की प्रकृति के प्रेरक मनोबल के अतिरिक्त, जैनो ने यह भी अनुभव किया कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है। मन की स्वस्थता का अर्थ है—उसका नियंत्रित रहना और स्थिर एकदिशी होना। इसलिये उन्होने सर्वप्रथम ऐसी विधिया प्रस्तावित की जो शरीर को स्वस्थता प्रदान करे। इनमें परिवेश एव अन्तर्ग्रहण (भौतिक एवं मनोभावात्मक आहार) के नियंत्रण प्रमुख हैं। वस्तुतः ये दोनो ही शरीर के स्वास्थ्य को प्रभावित करते है। इसके लिये शाकाहार के समान सात्विक भौतिक आहार, हिंसा-समाहारी खाद्यो का अनाहार, मादक पदार्थों का अनाहार, सूर्य या उज्ज्वल प्रकाश मे आहार, ऊनोदरी, समय-समय पर 24-36 घटों के उपवास आदि विधियां सुझाई गई हैं। जैन तंत्र के अनेक व्रत इनके परिपालन के लिये ही है। *आहारशास्त्रियो ने यह तथ्य प्रकट किया* है कि आहार की आदते शरीर तत्र के स्रावों को प्रभावित करती हैं और उनसे मनोभावात्मक परिवर्तन व्यक्त होता है। सात्विक आहार और उसके नियत्रण से आतरिक बल, अहिसक वृत्ति एव नैतिक आचरण का सवर्धन होता है।

आहारादि के शारीरिक नियत्रण आशिक स्वस्थता देते है। पर ये ध्यान और तप (साधना)—अभ्यतर और वाह्य-की प्रवृत्ति को प्रेरित करते है और मन की चचलता को दूर करने मे सहायक होते हैं। जैन-तंत्रज्ञो ने यह *बताया है कि मानसिक स्थिरता/नियंत्रण, मनोभावात्मक/आवेग-सवेगात्मक* शुभता या वैचारिक दशा की कोटि विभिन्न प्रकार के कर्मो के (1) उपशम या दमन (2) क्षय (3) क्षय और उपशम (4) उदय के प्रकमों से प्रभावित होती है। ये विधिया मानव के व्यवहार सुधा‍ ‍की चार मनोवैज्ञानिक

प्रक्रियाओं—(1) दमन (2) विलयन या बुरी प्रवृत्तियों का क्षय (3) उदात्तीकरण और मार्गान्तराकरण (क्षयोपशम) के समकक्ष हैं। जैन-तंत्र के उपरोक्त ईसा पूर्व सदियो के निर्देशो का वर्तमान वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं से यह साम्य वस्तुतः हमे आनदित करता है। फलतः यह स्वाभाविक है कि स्वस्थ शरीर और मनोनियत्रक ध्यान आदि प्रवृत्तियो से हमारे आचरण अधिक नैतिक और शुभतर या पवित्र बने। इससे हमारा आध्यात्मिक या आन्तरिक स्तर अधिक उन्नत होगा और हमारी क्रियाये शुभतर होने लगेगी।

जैन तत्र मे मन को, विचारो को, बडा महत्त्व दिया गया है। इसीलिये उसमे सकल्पी हिसा को अशुभतम माना गया है। मानव के मनोभावात्मक स्तरो के क्रमिक शोघन की दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को एक चतुर्दशी श्रेणी (गुणस्थान) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह अज्ञान (निथ्यात्व) से पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) की ओर, कर्मता से अकर्मता की ओर क्रमश . बढती है। यह श्रेणी सकेत देती है कि मन के नियत्रण के लिये दमन या उपशमन विधि बहुत अच्छी नहीं होती क्योंकि कभी कभी यह प्रतिक्रिया उत्पन्न कर मनोभावो को विकृत करती है और उसके आध्यात्मिक विकास पथ को ग्यारहवे स्तर से छठवे स्तर तक ला देती है। इसी प्रकार, यदि नियत्रण उपायो एव साधना की विधियो मे समुचित सावधानी न बरती जावे, तो भी विकास का अवनमन नौवे स्तर से चौथे स्तर तक या सातवे स्तर से चौथे स्तर तक हो जाता है। इस अवनमन को निरस्त करने और सहज विकास पथ पर अग्रसर बने रहने के लिये मानव को बलवत्तर प्रयत्न करने होगे। इसके विपर्यास मे, हम पाते है कि अशुभ मनोभावो के विलयन की विधि नैतिक विकास की अधिक अच्छी विधि है। इसमे व्यक्ति सीधे ही दसवे स्तर से बारहवे स्तर पर और पाचवे से आठवें स्तर पर चला जाता है। इस श्रेणी का चौदहवा स्तर उच्चतम है जहा सभी प्रकार के कषायादिक मनोभाव (शुभ या अशुभ) शून्य हो जाते है, सभी आवेग ओर क्रियाये शात हो जाती है। इस स्तर पर समस्त कर्मों, के आवरण नष्ट हो जाते हैं और मानव को जीवन की उच्चतम नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का जैन लक्ष्य प्राप्त होता है। इस स्थिति मे वह अनत आनंद का अनुभव करता है। इस स्थिति को तत्र में उच्चतम आध्यात्मिक पद-सिद्ध पद-कहा गया है। इस पद पर आने के साथ जीवन का उच्चतम लक्ष्य मिल चुका होता है। इस प्रकार हम देखते है कि नैतिक क्षेत्र मे भी जेनो ने प्रारंभ से ही वे ही

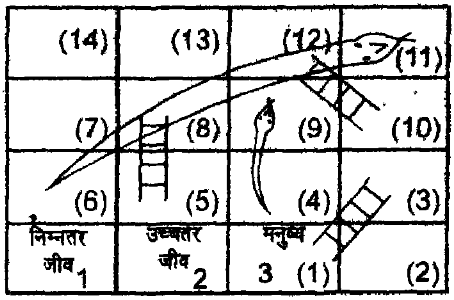

चित्र 2 गुणस्थान निदर्शन के लिए सांपसीढ़ी

सिद्धान्त और विधियां अनुमोदित की है जो वर्तमान वैज्ञानिको और मनोवैज्ञानिकों ने उत्तरकाल में विकसित की हैं। आध्यात्मिक विकास की श्रेणी को "साप-सीढी" के लोकप्रिय क्रीडा चित्र के एक रूप मे दिया गया है। इस क्रीडा चित्र 2 के अनेक रूप पाये जाते हैं।

आध्यात्मिक विकास की इस श्रेणी की परिकल्पना जैनेतर तंत्रो में लगभग नही पाई जाती। यह मनोवैज्ञानिक आधारो पर विकसित की गई है। यह जैनाचार्यों की तीव्र अतर्निरीक्षण शक्ति की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। उन्होने इसके विभिन्न स्तरों पर अनेक अशुभ कर्मों के विलयन को परिमाणात्मक रूप मे भी दिया है। इसकी मनोवैज्ञानिक प्रयोगो के आधार पर पुष्टि अपेक्षित है। यह पुष्टि इस श्रेणी की अपूर्वता को ही प्रकट करेगी।

(v) कर्मवाद का विज्ञान

ससार मे जीव-जगत की विविधता अचरजकारी है। यह अनेक दृष्टियों-इन्द्रिय, गति, सज्ञा, लिंग, पद, समृद्धि, ज्ञान, आदि अनेक अन्वेषण द्वारो (मार्गणाओ) से परिलक्षित होती है। ईश्वरवादी तत्रों ने इसे ईश्वर-प्रेरित माना, फिर कर्मफल माना। अनीश्वरवादी जैनो ने इसे मात्र कर्मफल माना। इस प्रकार "कर्म" की धारणा प्राय. सभी भारतीय तंत्रों मे है, पर जैनतत्र मे उसका विशिष्ट अर्थ और विवरण-न केवल गुणात्मक रूप से अपितु परिमाणात्मक रूप से भी उपलब्ध है। प्रारंभ में केवल अशुभ कर्मों का त्याग ही सुख का मार्ग रहा होगा। बाद मे शुभ कर्म/शुभ मनोभावो को भी पुण्य मार्ग माना गया। अब कर्मवाद मे दोनों प्रकार के कर्म (कुछ का परिहार, कुछ का परिपालन) समाहित होते हैं। कर्मवाद की अनेक विशेषतायें कुछ सबधित अनुच्छेदों 2-7-8 एव 4-ब-स मे दी गई है। उनका पुनरावर्तन न कर अन्य सूचनाये यहा दी जा रही हैं।

जैन तत्र में "कर्म" अदृश्य एव सूक्ष्मतम आदर्श परमाणुओ का पिण्ड माना जाता है। ये ससार मे सर्वत्र व्याप्त हैं। जो कर्म-परमाणु जीव के

साथ एकक्षेत्रावगाही रूप से सबद्ध हो सके, वे "कर्म" कहलाते है। प्राणियो की क्रियात्मकता से ये कर्म-परमाणु जीव की ओर आकर्षित होते है और उससे दृढतः या अदृढत सबद्ध हो जाते है। शास्त्रों मे अज्ञान, प्रमाद, मनोभाव, अनियंत्रित जीवन एव विविध क्रियाओ को कर्मो के आकर्षण का कारण बताया गया है। वस्तुतः ये कारण अशुभ कर्मो को आकर्षित करते है। शुभ कर्मों का घनत्व कम होता है और अशुभ कर्मों का घनत्व अधिक होता है। इन कारणो की दुर्बलता से शुभ कर्म आकर्षित होते है, यह मानना चाहिये। ससार के सभी प्राणी इन कर्मो के चक्र मे फसे हुये है। यही चक्र उपरोक्त विविधताओ का मूल है। इस चक्र से छुटकारा दिलाना धर्म का लक्ष्य है। इसके लिये निम्न प्रक्रिया बताई गई है:

क्रियाये (शुभ/अशुभ) ; अणुव्रत (महाव्रत आदि)

मानव ——क्रियाये शुभ/अशुभ——> कर्मबध ——अणुव्रत महाव्रत आदि——> कर्मशैथिल्य, अवरोध और निर्झरण ——> उत्तमसुख

यह प्रक्रिया कर्मवाद की मनोवैज्ञानिकता एव वैज्ञानिकता की स्वयमेव अभिव्यक्त करती है।

विभिन्न प्रकार के कर्म परमाणु भौतिक एव भावात्मक क्रियाओ के कारण मूलतः 8 वर्गों के रूप मे अभिव्यक्त होते है जो ज्ञान, दर्शन, वेदना, दर्शन एव चारित्र मोह, नाम (शरीर एव व्यक्तित्व), गोत्र (जीवन स्तर), आयु (दीर्घजीविता) एव विघ्नकर (अतराय) के रूप मे मनुष्य की विविध प्रवृत्तियो एव मनोवृत्तियो की पूर्ण अभिव्यक्ति मे बाधक होते है। ये मूलकर्म भी उपवर्गीकृत किये गये है जिनके कुछ मिलाकर 148-168 भेद तक होते है। इनमे सर्वाधिक उपवर्ग मोहनीय (28) और नाम (93) कर्म के है। इससे उनकी महत्ता स्पष्ट होती है। वर्तमान मे यह कर्मवाद विवरण मनोविज्ञान (ज्ञान, दर्शन, वेदना, व्यवहार, चरित्र, विश्वास, व्यक्तित्व), शरीर एव शरीर क्रियाविज्ञान (नाम, आयु) एव समाज विज्ञान (गोत्र, अतराय) के अग के रूप मे माना जा सकता है। युवाचार्य और मुनिश्री ने कर्मवाद की ऐसी व्याख्या पर अच्छा प्रकाश डाला है।

जैन शास्त्रो मे कर्मो के भेदो और उपभेदो के उपशम, क्षय और उदय आदि के सम्बन्ध मे गणितीय विवरण भी दिये गये है। इन्हें "लोकोत्तर गणित" के रूप मे वर्णित करने की परम्परा है। वस्तुतः कर्मवाद तो

लौकिक ही है, जो कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त पर आधारित है पर इसमें लचीलापन अधिक है। यह नियतिवाद के बदले पुरूषार्थवाद पर भी बल देता है। यह मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं विधाता बनाता है और उसमे शिवत्व प्रस्फुटित करता है। इसके लिये शास्त्रीय दस कर्म-प्रकमों में से पांच (उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, संक्रमण और उदय) प्रक्रम महान उपयोगी हैं। ये ही मानव के पुरुषार्थ के प्रतीक हैं।

नवीनतम शोधों के अनुसार मानव जीवन की विविधता मात्र कर्म-मूलक नही है। इसमे अन्य अनेक कारक भी सहयोगी बनते हैं। कर्म की मात्र व्यक्तिनिष्ठता को अशत. समूहनिष्ठता से भी सहचरित मानने की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इससे अनेक जटिल समस्याओ के समाधान में सरलता हुई है। साथ ही, ज्ञान–दर्शनादि के क्षेत्र मे अपार वैज्ञानिक प्रगति के कारण इस सदी मे सामान्यतः कर्मों का सामूहिक क्षयोपशम उन्नत हुआ है।

4. जैन-तंत्र का इतिहास : (अ) राजकीय संरक्षण

संख्यात्मक दृष्टि से जैन तत्र भारत एवं विश्व का एक अल्पसंख्यक तत्र है (1-0.1प्रतिशत)। फिर भी, यह विश्व के विभिन्न भागों मे व्यापक रूप से सप्रसारित हुआ है। इसके प्रसार में व्यापारियो, साधुओं, राजवंशो ने महत्वपूर्ण योगदान किया है और धर्मान्तरण की मनोवृत्ति का आश्रय लिये बिना ही इसे लोकप्रिय बनाया है। इसे लगभग महावीरोत्तरकालीन 1800 वर्षों तक भारत के विभिन्न क्षेत्रो एव कालो में राजकीय एंव राजनीतिक संरक्षण मिला जिससे इसने बहु-आयामी विस्तार पाया और यह दीर्घजीवी बना। यद्यपि जैन सिद्धान्तो मे विश्व स्तर पर लागू होने की क्षमता है, फिर भी इस तंत्र में अन्य धर्मों की तुलना मे जनमानस को क्यों आकर्षित नहीं किया, यह विद्वानों के लिये गहन अनुसंधान का विषय है।

जैन-तत्र के इतिहास को सुव्यवस्थित रूप से जानने के लिये उसे कम से कम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचारित करना चाहिए–(1) राजकीय सरक्षण (2) साहित्यिक सर्वेक्षण और (3) सामाजिक सर्वेक्षण। इनके आधार पर ही संक्षेप मे जैनतत्र के इतिहास का वर्णन किया जायेगा।

महावीर इस दृष्टि से बड़े भाग्यशाली थे कि वे समसामयिक राजवशो

एवं गणों से निकटतः सम्बन्धित थे। प्रायः इन सभी ने और उनके उत्तराधिकारियो ने पूर्वी भारत में जैनतत्र की बड़ी प्रभावना की और उसे लोकप्रिय बनाया। यही कारण है कि उन दिनो महावीर के लगभग साढ़े तीन लाख अनुयायी थे। महावीर की निकट और दूरवर्ती शिष्य परम्परा के अनेक आचार्यों के भी उत्तर, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण (यहा तक कि श्री लका) के अनेक समसामयिक राजतंत्रों के संबध रहे है। उत्तर भारत के जैन-धर्म सवर्धक कुछ राजा और राजवशों में श्रेणिक बिंबसार, अजातशत्रु, नन्दवश, चन्द्रगुप्त मौर्य, सप्रति, मित्रवश, गुप्त-राजवंश, हर्षवर्धन, आमराज, यशोवर्मन, प्रतिहार एव चदेलवश, मुगल राजवंश, अकबर और अन्य राजा प्रमुख है जिन्होंने जैन संस्कृति, कला और स्थापत्य को समुन्नत बनाया। जैनो की लोकप्रियता के लिये अशोक, गुप्तवश आदि के काल कष्टकर भी रहे जब उन्हे मगध छोडकर अन्य क्षेत्रो मे जाना पड़ा। इन्होने अपना मगध निष्क्रमण ऐसे दो मार्गों से किया जिसके कारण जैन-तत्र को आने वाले समय मे भारत में चारो ओर फैलने के अवसर मिले। इनका पहला मार्ग कलिंग (उडीसा) होकर दक्षिण की ओर जाता था। दूसरा मार्ग मथुरा, उज्जैन ओर गुजरात के माध्यम से दक्षिण के दूसरे भाग को पहुचाता है। दोनो ही मार्गों से दक्षिण मे जैन-तत्र पहुचा। इसीलिये यह सदियो तक जैनधर्म का सुरक्षित एव सरक्षित गढ बना रहा। इन दोनों ही मार्गों से पार होते समय इन क्षेत्रो के सामान्यजनों ने इन्हे सहयोग और प्रेरणा अवश्य दी होगी।

ईसापूर्व दूसरी सदी के बगाल और कलिग के राजवशो ने जैनों को अच्छा सरक्षण दिया। इसी के फलस्वरूप खारवेल के समय कुमारी पर्वत पर लगभग 180 ई० पू० मे जैन-साधु-सम्मेलन (बाचना) हुआ था। इसे दिगबर बाचना कहा जा सकता है, पर इसका विवरण उपलब्ध नहीं है। यह सरक्षण, यद्यपि, अधिक समय तक नही रहा, फिर भी, इसका प्रभाव दीर्घकाल तक बना रहा। आज भी इन क्षेत्रो में जैन मूर्तियो एव स्थापत्य के अवशेष इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। यहा की सराक जाति इस सस्कृति की जीवत प्रतीक है।

ईसापूर्व कुछ सदियों से लेकर पाचवी-छठी सदी तक मथुरा, उज्जैन और बलभी (गुजरात) के क्षेत्र जैनतत्र के प्रभावशाली सरक्षक रहे। इस क्षेत्र मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अच्छा बिकास हुआ। आचार्य शीलगुण सूरि

जी ने नवमी सदी मे गुजरात राज्य की स्थापना में योगदान किया। बाद मे, बनराज, जयसिह, और कुमारपाल आदि राजाओ ने पश्चिम मे जैन धर्म को राजधर्म-जैसा ही रूप दे दिया। इस क्षेत्र मे आज भी जैनतत्र की सुगधि का अनुभव किया जा सकता है।

दक्षिण भारत के विभिन्न भाग लगभग एक हजार वर्ष तक दिगम्बर सम्प्रदाय के गढ रहे। भद्रबाहु और मौर्यराज ने अपनी दीर्घ यात्रा के दौरान जैन-तंत्र के बीज बोये थे। इससे पूर्व पार्श्व के अनुयायी भी इस क्षेत्र में लका तक जा पहुचे थे। इस साधु सघ से जैनतत्र न केवल लोकप्रिय हुआ, अपितु इससे अनेक राजवश भी प्रभावित हुये। दिगबर साधु सिंहनंदि ने कर्नाटक मे गगवश की स्थापना मे सहयोग दिया और मुनि सुदत्त ने होयसल वश की स्थापना मे योग दिया। ये दोनो ही राजवश जैनतत्र के प्रभावशाली सरक्षक रहे। बाद मे, विजयनगर के राजबशो ने भी चौदहवीं सदी तक अपने क्षेत्र मे जैनतत्र को सरक्षण एव प्रभावना दी। आध्र के राष्ट्रकूट वश का युग तो दक्षिण मे जैनतत्र की साहित्य सर्जना एव प्रभावना का स्वर्णकाल माना जाता है। अमोधवर्ष के शासनकाल मे गुफा मदिर की कला भी विकसित हुई। इस वश का शासन चौदहवी सदी तक प्राय चार-पाच सौ वर्षों तक रहा। इस काल मे जैन उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त होते थे। श्रवणबेलगोला की बाहुबलि मूर्ति निर्माता चामुडराय ऐसे ही प्रसिद्ध जैनधर्म प्रभावको मे से एक है। ये राजा और राजवश जैन मदिरो, मठो एव मुनिसघ यात्राओ मे सभी प्रकार की सहायता करते थे। यह कहा जाता है कि मध्यकाल के पूर्व दक्षिणी क्षेत्रो मे एक तिहाई जनता जैनतत्र की अनुयायी थी।

भारत के इतिहास के मध्य और उत्तरकाल मे अनेक राजवश ऐसे हुए है जो जैन-तत्र से सहानुभूति नहीं रखते थे। इनके कारण न केवल दक्षिण मे ही प्राय बारहवी सदी के बाद राजकीय सरक्षण मिलना बन्द हो गया, अपितु उत्तर भारत मे भी पर्याप्त अशो मे यही स्थिति निर्मित हुई। इसके बावजूद भी, जैनो ने अपनी अहिंसक व्यवहार और व्यापार कुशलता से अपने को परिरक्षित बनाये रखा। तथापि, बदलते परिवेश के कारण जैनो की जनसख्या कम हुई और इसके सास्कृतिक क्रियाकलापो के विस्तार को भी आघात लगा। भारत प्रशासन के मुस्लिम और मुगल काल में भी, कुछ अपवादो के साथ, यही स्थिति रही। इस स्थिति में भी जैन अपना प्रभावी

अस्तित्व रख सके। इसी युग मे उत्तरमध्य काल में जैनो में मूर्तिपूजक के बदले शास्त्रपूजक पंथों का उदय हुआ। इनमें श्वेताम्बर शास्त्रपूजक तो पर्याप्त सख्या में आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुये है। इसके विपर्यास में, दिगम्बरो में शास्त्र-पूजको की संख्या आज भी स्वल्प है। इसी बीच दिगबरों मे मुनि प्रथा ह्रास मे आ गई और भट्टारक प्रथा चल पडी। राजस्थान और अन्य क्षेत्रो मे भट्टारको को राजवशी संरक्षण मिला और असख्य मूर्तियां प्रतिष्ठित की गईं। ये भट्टारक प्रायः यथास्थितिवादी रहे और उन्होने शास्त्र रचे, अनुवाद किया और इनकी सुरक्षा के लिये भडार बनाये। श्वेताबर पंथ मे भी नवजीवन आया और मुस्लिम आक्रमणों के भय से तथा अहिसक जीवन के प्रति रुझान से अनेक क्षत्रियो ने जैन धर्म अगीकार किया। यह राजस्थानी जैनों के गोत्रो से पता चलता है। यही नहीं, मुनि हीरविजय जी के समान अनेक दिगंबर और श्वेताबर साधुओं की चर्चा और प्रभाव से आकृष्ट होकर अकबर के समान राजाओ ने अहिसा धर्म की प्रभावना मे योगदान किया। पर ऐसी घटनायें अपवाद रूप में ही लेनी चाहिये। मुस्लिम काल मे मूर्तिभजको के आतक के समान अनेक विषम परिस्थितियो मे भी जैन व्यक्तिनिष्ठ बने रहे और अपने को सुरक्षित बनाये रहे।

ब्रिटिश शासनकाल मे सभी संप्रदायो के प्रति व्यापक उदारता की भावना एव धार्मिक स्वतत्रता की प्रवृत्ति ने जैन तत्र को सरक्षित बने रहने मे तो योग दिया पर उसका विशेष सवर्धन नहीं हो सका। भारत के स्वतंत्र होने पर संप्रदाय-निरपेक्षता की नीति अपनाई गई। इससे जैन धर्म भी लाभान्वित हुआ। भारत शासन ने जैनों के अनेक राष्ट्रीय महत्व के पचकल्याणको, महाभिषेक महोत्सवों के आयोजन में सक्रिय रूप से सहायक होकर न केवल जैन शासन की गरिमा ही बढाई, अपितु जैनतंत्र की सजीवता को भी जागृत कर दिया। बाहुबली अभिषेक महोत्सव का दूरदर्शन पर अखिल भारतीय प्रसारण इसका एक उदाहरण है। इससे इस काल मे जैन अधिक जागरूक हुए है। उन्होने भारतेतर-भाषाओ मे नवसाहित्य का प्रणयन एव प्राचीन साहित्य का अनुवादन किया है। इससे जैनो मे जैनतंत्र के विश्वस्तरीय प्रसार की मनोवृत्ति विकसित हुई हे। जैनो ने अनेक प्रकार की शैक्षणिक सस्थाये, शोध सस्थाये और अब तो विश्वविद्यालय भी खोले है जो जैन सस्कृति के राजदूत प्रमाणित हो रहे हैं; उन्होने राष्ट्रीय और

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाये हैं जो जैनतंत्र के प्रसार की दिशा में कार्य ही न करें, अपितु नयी पीढ़ी को मार्गदर्शन भी दें। यह इसी सदी के आठवें दशक की बात है कि महावीर की पच्चीससौवीं निर्वाणशती पर शासन के सहयोग से हमारे देश में जैनतंत्र की प्रभावना का वातावरण बना, जैन विद्याओं पर स्थान-स्थान पर सगोष्ठियां हुई और अनेक स्थानों पर जैन विद्या एवं प्राकृत के पाठ्यक्रम चालू हुये। यह परम्परा अब भी चल रही है। जैनतंत्र के अध्येताओं एव अनुसधाताओं की सख्या देश-विदेशों में निरंतर बढ़ रही है।

भारतेतर देशो में संप्रदाय–निरपेक्षता के वातावरण ने परोक्षरूप से व्यापार, शिक्षा एवं व्यवसाय के लिये गये जैनों ने जैनतत्र के व्यापकीकरण प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया है। वहा मदिर बने हैं, जैन केन्द्र और पुस्तकालय खुले हैं। जैन विद्या के स्नातक एव स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चालू हुए हैं। इससे पाचो महाद्वीपो मे जैनेतरो की जैनतत्र मे रूचि निरंतर बढ़ रही है। इस प्रकार अब यह तत्र प्रत्यक्ष राजकीय संरक्षण के बिना भी राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो रहा है।

जैन तंत्र का इतिहास : (ब) साहित्यिक इतिहास

जैन तंत्र के प्रसार मे प्राचीन, मध्यकालीन एव आधुनिक साधु-सतो एव विद्वानो ने अधिक महत्वपूर्ण योगदान किया है। फिर भी, इस तथ्य से इकार नहीं किया जा सकता कि राजकीय संरक्षण एवं सहयोग ने विविध प्रकार के साहित्य निर्माण की गति को उत्प्रेरित किया है। यह माना जाता है कि प्रथम सदी के आचार्य आर्यरक्षित ने विभिन्न प्रकार के जैन साहित्य को चार वर्गों में (अनुयोगो) मे विभाजित किया :

(1) **प्रथमानुयोग :** त्रेसठ शलाका पुरुषो एवं अन्य महापुरुषों की जीवनी, धार्मिक पौराणिक कथाये, वर्णनात्मक साहित्य, कथा साहित्य, ललित साहित्य,

(2) **करणानुयोग :** तकनीकी साहित्य, लाक्षणिक साहित्य, अ-ललित साहित्य,

(3) **चरणानुयोग :** नैतिक एंव चारित्र सम्बन्धी उपदेश और साहित्य

(4) **द्रव्यानुयोग :** तत्वविद्या, प्रमाणविद्या और दर्शन

कुछ ग्रन्थों में इन अनुयोगो के नाम भिन्न भी दिये हैं। अनेक जैन

स्थविरो, साधुओं, विद्वानो, भट्टारको एवं गृहस्थों-सभी ने इस विविधा-भरे साहित्य के सृजन मे अपने-अपने युगो मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। वस्तुतः जैन साहित्य जैनो का ही नही, अपितु समग्र भारत का एक अनुपम कोषागार है। इस साहित्य का मूल उद्देश्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जैनतत्र की नैतिक शिक्षाओ का सम्प्रसारण है। इसीलिये विषय कुछ भी हो, उस पर जैनतत्र की मोहर अवश्य लगी दिखेगी।

जैन साहित्य का निर्माण दो चरणो मे हुआ है–(1) पहली सदी के विषय-विभाजन के पूर्वकाल मे और (2) उत्तर-अनुयोग काल मे। ये दोनो ही साहित्य गुणात्मकता एवं सख्यात्मकता की दृष्टि से विशाल है। इसका काफी कुछ अश ऐसे साधुओ और भट्टारको ने लिखा है जिन्हे धर्म और समाज-दोनो को मार्गदर्शन देना पड़ता था। इस साहित्य की विशालता राजस्थान आदि क्षेत्रो के संरक्षित ग्रन्थ भण्डारो मे उपलब्ध लाखों पाडुलिपियो के अस्तित्व से ज्ञात होती है। यह साहित्य तत्कालीन भाषाओ मे लिखा गया है जिससे वह सहज बोधगम्य हो और महावीर के जनभाषी उपदेशों की धारा के अनुरूप हो।

अनुयोग विभाजन के आधार पर यह पाया गया है कि प्रथम और तृतीय कोटि का साहित्य सर्वाधिक मात्रा मे है। वस्तुत. सभी प्राचीन आगम साहित्य अनुयोग-विभाजन का पूर्वकालीन है। अतः उनकी कोटि प्रथम और तृतीय अनुयोगो का मिश्रित रूप व्यक्त करती है। यह आगम द्वादशागी कहलाता है जिसमे चौदह पूर्व भी समाहित हो गये है। तथापि, पूर्वो के नाम के आधार पर उनका अनुयोग अनुमानित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, महावीर के उत्तरवर्ती गणधरो एव स्थविरो ने जो साहित्य रचा है, उसमे भद्रबाहु का नाम प्रमुख है। इनके समय मे ही जैन सघ के वर्तमान दो प्रमुख घटको का प्रवीजन हुआ था। इन्होने प्रायः चरणानुयोग पर ही ग्रथ और टीकाये लिखी है। आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुद-कुद, समतभद्र, उमास्वामी (ति), बट्टकेर, शिवार्य, स्वामी कार्तिकेय, अमृतचन्द्र, आशाधर, और अन्य दिगबर साधुओं ने चरणानुयोग की कोटि का साहित्य लिखा है। शय्यंभव, श्याम आर्य, जिनभद्र, जिनदास, सघदास, हरिभद्र, शीलाक, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय गणि तथा अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी इस कोटि का ही पल्लवन किया है, यद्यपि इनमें अनेको ने अन्य कोटि का साहित्य भी लिखा है। इन आचार्यों का रचनाकाल ईसापूर्व

सदियों से लेकर पूर्व-मध्यकालीन ईसोत्तर सदियो के बीच आता है।

आगम और आगमकल्प ग्रन्थो मे चरणानुयोग के साथ प्रथमानुयोग सबधी कथा साहित्य भी है। इसके साथ गुणाढ्य, विमल सूरि, हरिभद्र, संघदासगणि, स्वयंभू, उद्योतनसूरि, जिनसेन, गुणभद्र, पंप, पोन्न, रन्न, रत्नाकर, पुष्पदत्त, वीरनदि, हरिषेण, मल्लिषेण, वादीभसिह, हेमचन्द्र, मेघविजय आदि आचार्यों ने अनेक जैन महाकाव्यो, चपुओं, जीवनियों, पौराणिक एवं धार्मिक कथाओ को ललित रूप मे प्रस्तुत किया है। इनके साहित्य में जैन संघ के 63-148 शलाका पुरुषो का मनोरम चरित्र पाया जाता है जिसका उद्देश्य श्रावको के नैतिक उत्थान को प्रेरित करना है। यह प्रथमानुयोगी साहित्य भी पर्याप्त विशाल है।

इस साहित्य मे ललित साहित्य के वे अंग भी आते है जिनसे साहित्य का लालित्य प्रस्फुटित होता है। इन अगो मे व्याकरण, छदशास्त्र, रसशास्त्र, एव शब्दकोष की शाखाये आती है। इन क्षेत्रो मे पूज्यपाद, शाकटायन, कातंत्र, हेमचन्द्र, बुद्धिसागर, बाग्भट, धनजय, धरसेन और अन्य अनेक आचार्यों ने अनुपम योगदान किया है।

इस साहित्य के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार का विविधापूर्ण साहित्य भी समाहित होता है जिसमे स्तोत्र, पूजा, विधि,-विधान आदि आते है। भद्रबाहु, मानतुंग, बादिराज, बसुनदि के समान अनेक आचार्यों ने अपनी रचनाओं के द्वारा न केवल विभिन्न युगो मे अचरजकारी धार्मिक प्रभावना की है, अपितु छदशास्त्र को भी आकर्षक एव समृद्ध बनाया है। ये सभी रचनाये भक्तिवाद की प्रेरक हैं।

यहा यह ध्यान मे रखना चाहिये कि उपरोक्त अनेक आचार्यों को उनके साधु-जीवन एव साहित्य-शिल्प की उत्तमता के कारण विभिन्न युगो मे राज्याश्रय भी प्राप्त रहा है। इससे वे जैन तत्र की सार्वजनिक प्रभावना मे अपना महनीय योगदान कर सके। इनमे से अनेक आचार्यों ने प्राकृत, सस्कृत के अतिरिक्त कन्नड, तमिल, तेलगू, गुजराती, हिन्दी आदि क्षेत्रीय भाषाओ मे भी अच्छा साहित्य लिखा है। इनकी नामावली, विस्तार भय से यहा नहीं दी जा रही है। फिर भी, यह जान लेना चाहिये कि जैनो के द्वारा निर्मित साहित्य दक्षिण भारतीय भाषाओ का मूलाधार रहा है। प्रथमानुयोग सबधी विशाल जैन साहित्य की ओर पश्चिमी विचारको का भी ध्यान गया

है जिन्होंने इसकी गुणवत्ता और वर्णन विधा की उत्तमता की मुक्तकठ से सराहना की है। इस कोटि के साहित्य ने सामान्य जनो को जैनधर्म से प्रभावित होने मे तथा जैनो की धार्मिकता को अक्षुण्ण रखने मे बडी सहायता की है।

करणानुयोग की कोटि के साहित्य के क्षेत्र मे जैनो का नाम सु-ज्ञात है। इस साहित्य के मूल बीज तो प्राचीन आगम एव आगमकल्प ग्रन्थों मे भी पाये जाते है लेकिन उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने विशिष्ट विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे है। इनमें ज्योतिष (पादलिप्त सूरी 100 ई०), भूगोल (उमास्वामी, 300 ई०), पद्मनदी, (1000 ई०), यतिबृषभ (500 ई०), गणित (यतिवृषभ, महावीराचार्य, 800 ई०), चिकित्सा (पूज्यपाद, 500 ई०, उग्रादित्य 800 ई०) शकुन विज्ञान (नरपति 800 ई०), स्वप्न विज्ञान (मलयप्रभ, 1200 ई०), मत्र शास्त्र, (मुनि देव सूरि, 1300 ई०), सगीत (मडन मत्री, 1300 ई०, पार्श्वचन्द्र 1400 ई०), कर्मवाद (हितशर्मा, 200 ई०, चन्द्रर्षि, 500 ई०, नेमिचन्द्र चक्रवर्ती, 1000 ई०, देवेन्द्र सूरी माधवचन्द्र, त्रैविद्य एव यशोविजय गणि 1800 ई०), मणिशास्त्र (ठक्कुर फेरू, 1315 ई०), हस्तरेखा विज्ञान और अन्य तकनीकी एव कला विषयों के ग्रन्थ समाहित होते है। इस साहित्य का समुचित अन्वेषण और अध्ययन आज के वैज्ञानिक युग मे पर्याप्त वाछनीय है।

द्रव्यानुयोग की चतुर्थ कोटि मे तत्वविद्या, प्रमाणशास्त्र, दर्शन एव अन्य संबधित विषय आते है। इसके अन्तर्गत अच्छा साहित्य उपलब्ध है। यह बुद्धिवादी कोटि का साहित्य है। यह जैन तत्र के सिद्धान्तों को तार्किक समर्थन देता है। कुद-कुद, समतभद्र, अकलंक, विद्यानद, सिद्धसेन दिवाकर, प्रभाचद्र, मल्लवादी, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजयगणि आदि आचार्यों ने जैन तत्व विद्या और न्यायविद्या को प्रतिष्ठित किया है। इस कोटि के अनेक प्राथमिक ग्रन्थो के अग्रेजी अनुवाद भी हुए है और प्रगत ग्रन्थो के अग्रेजी अनुवाद की योजना चलाई जा रही है।

जैन साहित्य के विकास के इतिहास मे योगदान करने वाले जैन विद्या मनीषियो के साहित्य का सर्वेक्षण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि अपने साहित्य मे उन्होंने असाप्रदायिक एव तर्कपुष्ट विचारधारायें प्रस्तुत की है। हां, धार्मिक साहित्य मे उन्होंने अवश्य जैन आचार-विचार विद्या को बुद्धिवाद एव अनुभव के आधार पर संपुष्ट किया है। इस साहित्य की

विविधा से जैनाचार्यों की साहित्यिक प्रतिभा तथा तीक्ष्ण निरीक्षण एव विचार क्षमता का अनुमान होता है। जैनों की यह प्रतिभा पूर्वाग्रह-विहीन, सहिष्णुता-संवर्धक एव शातिपूर्ण सहअस्तित्व की मानसिकता से ओतप्रोत है। इसने बुद्धिवादी जगत को गरिमामय रीति से प्रभावित किया है। यही कारण है कि भारतविद्या का सम्पूर्ण अध्ययन जैन साहित्य के अध्ययन के विना सभव नही माना जाता।

यहा यह भी बता देना चाहिये कि जैन साहित्य के निर्माण मे न केवल प्राचीन काल के साधुओ ने ही भाग लिया है, अपि तु इसमे उत्तरवर्ती काल मे अनेक गृहस्थ श्रावकों ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस दृष्टि से प० टोडरमल, बनारसीदास, राजमल, और आजकल के अनेक विद्वान् एव शोधकर्त्ता बहुतेरा साहित्य निर्मित कर रहे है। यही नहीं, अनेक पूर्वी और पश्चिमी जैनेतर विद्वानो ने भी अपने साहित्य के माध्यम से जैनतंत्र को प्रतिष्ठित एव प्रसारित करने तथा उसकी प्रभाविता बढाने मे बडा योगदान दिया है। इनकी सख्या निरतर बढ रही है।

जैन तंत्र का इतिहास : (स) सामाजिक इतिहास

भगवान महावीर के समय जैनों का समग्र संघ एक ही था। यह स्थिति पर्याप्त समय तक बनी रही। फिर भी, उनके दो भाग तो थे–(1) साधु-साध्वी और (2) श्रावक-श्राविका। हिन्दू समाज के अनेक वर्गों ने जैन मत अगीकार किया और उत्तरवर्ती काल मे भी उसकी अनेक जातियो ने अहिसक जीवन स्वीकार किया। महावीर के उत्तरकाल मे जब सघ के सदस्यो की सख्या पर्याप्त हो गई, तब उसकी समुचित व्यवस्था एव एकरूपता बनाये रखने के लिए सर्वप्रथम सघ और उसके अनुयायी अनेक गणो मे विभाजित हुये। बाद मे अर्हद्बलि के युग मे साधु-सघ अनेक उपसघों में विभाजित हुआ। यदि महावीरकालीन जैन साधु-सघ को मूलसघ माना जावे, तो उससे ही नदिसंघ, यापनीय सघ, द्रविड सघ, काष्ठा संघ, सिह संघ, सेन सघ एव देवसघ आदि विकसित हुये। इन सघों के अन्तर्गत अनेक गण भी विकसित हुये। इनमे देशीयगण, बलात्कारगण, काणूर गण, सूरस्थगण आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से अनेक गण दक्षिण भारत में ही स्थापित हुए हैं। इनका उल्लेख आचार्य परम्परा के विवरणों मे भी किया जाने लगा। साधुओं के ये गण और उपसघ विभिन्न आचार्यों के संरक्षण मे

थे और उनकी विभिन्न व्यवस्था के बावजूद भी वे. जैन तत्र के मूल सिद्धातो के अनुपालन एव परिरक्षण मे संघबद्ध थे। प्रत्येक सघ और उपसघ जैनतत्र को जीवतता देने के उपक्रम मे लगा रहा।

साधुओ के सघ विभाजन का प्रभाव श्रावको पर भी पड़ा। महावीर के उत्तरकाल मे जैन धर्म भारत के काने-कोने मे प्रतिष्ठित हो रहा था। इसमे अनेक जातीय एव मान्यता के लोग समाहित हो रहे थे। जैनों के जन्मना जातित्व के विरोधी सिद्धान्त के अनुसार उनमे जाति या वर्ण-व्यवस्था तो सभव नही थी, फिर भी जैनतत्र के अनुयायी समाज को एकसूत्रता मे बनाये रखने के लिये साधु संघो के समान समाज मे जाति प्रथा धीरे-धीरे विकसित होने लगी। जाति शब्द का अर्थ ऐसे समूह विशेष से है जो समान आचार, विचार, एवं सभव हो सके तो, व्यवसाय भी पालता हो। भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अनेक ऐसे लघु समूह विकसित हुये। इनके नाम क्षेत्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण व्यक्तियो, स्थानो, घटनाओ, देवताओ, व्यवसायो तथा प्राकृतिक परिवेशों पर आधारित थे। अहिंसक वृत्ति होने के कारण इनका व्यवसाय वैश्य वृत्ति ही बन गया चाहे जैनतत्र अपनाने के पूर्व वे किसी भी जाति या व्यवसाय को क्यो न मानते रहे हो। विदेशी आक्रान्ताओ और मूर्तिभजको के युग मे तो क्षत्रिय भी युद्धो से, मारकाट से त्रस्त हो गये थे। जैन साधुओ के अहिसक उपदेशो ने उन्हे भी प्रभावित किया और वे अहिसक वैश्य बनकर समाज का अनेक क्षेत्रो-प्रशासन, राजकाज-व्यवसाय आदि-मे नेतृत्व करने लगे। कुछ लोगो का मत है कि जाति स्थापना से श्रेष्ठ-हीनभाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके नियत्रण के लिये जाति मद को दूषण माना गया।

जैनों मे उपरोक्त अर्थों के अनुसार, विभिन्न जातिया कब से अस्तित्व मे आईं, यह शोधकर्त्ताओ मे विवाद का विषय है। कुछ लोग इन्हे महावीरकालीन ही मानते हैं और उनकी उत्तरकालीन परम्परा के आचार्यों की जातियो का भी उल्लेख करते है। यह अवश्य है कि जैन जातियों के विकास मे अनेक परिवेशी हिन्दुओ की प्रथा का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सामान्यत जैनो की मूल जाति, हिन्दुओ के विपर्यास मे, केवल एक ही बनी —वैश्य। तथापि, उसके सदस्य हिन्दुओ की जातियो के अन्य वर्गों की सेवाओ से लाभान्वित होते रहे। प्राचीन जैन ग्रन्थो में जैनो की जातियों का

सारणी 1 : कुछ जैन जातियों का विवरण

	जाति	उत्पत्ति स्थान	समय	आचार्य	गोत्र
1	ओसवाल	ओसिया, जोधपुर	457 ई०पू०, 165 ई	रत्नप्रभसूरि	1444
2	श्रीमाल	भीनमाल, जालोर	7-8 वीं सदी	"	–
3	पोरवाल, प्राग्वाट	भीनमाल पूर्वीभाग पुरा मेवाड़	8 वीं सदी	–	–
4	पल्लीवाल	पाली, राजस्थान, पल्ली, दक्षिण भारत	"	रत्नप्रभसूरि	–
5	खण्डेलवाल	खडेला,सीकर	1सदी, 8 वीं सदी	जिनसेन	84
6	बघेरवाल	बघेरा, टोक	8 वीं सदी	रामसेन	52
7.	अग्रवाल	अग्रोहा, (हरियाणा)	1 सदी 8 वीं सदी	अग्रसेन, लोहाचार्य	18
8	नरसिहपुरा	नरसिहपुर, मेवाड	–	–	27
9	जैसवाल	जैसलमेर	–	–	36
10-11	चित्तौडा/ नागदा	चितौड/नागदा	आठवी सदी	-	–
12	हुम्बड़	डूंगरपुर, राज०	"	–	18
13	परवार	मेवाड/गुजरात	1 सदी, 6 सदी	–	12
14	गोलापूर्व	गोलाकोट	–	–	–
15	गोलालारे	ग्वालियर	–	–	–
16.	पद्यावती पुरवाल	पद्यावती	दसवीं सदी से पूर्व		

उल्लेख नही पाया जाता। फलत· इनका विकास उत्तरकालीन ही मानना चाहिये।

जैनो की मूल वैश्य जाति समय के साथ अनेक उपजातियों मे विभाजित होती रही। कहते हैं कि ये विभाजन सबद्ध तत्रो की सजीवता को व्यक्त करते हैं। भारत के विभिन्न भागों मे समान विचारधारा के जैन अनुयायियो ने अपनी-अपनी जातियों का निर्माण किया। सामान्यत· यह

कहा जाता है कि जातियो के निर्माण से समाज की सामूहिक सामाजिकता मे कमी आती है। यह तथ्य अशत ही सही माना जा सकता है। आज जैन समाज की जो सार्वत्रिक प्रभावकता है, वह इस मान्यता को समर्थन नही देती। प्रत्येक धार्मिक या सैद्धान्तिक महत्व के प्रकरणो में उपजातिवाद ने सदैव सामूहिक एकसूत्रता दिखाई है। कुछ समय पूर्व उपजातियो मे अनेक प्रकार की सामाजिक अनुदारताओं के लक्षण पाये जाते थे, पर समय के साथ अब उदारता के अनेक लक्षण प्रकट होने लगे है।

जैन का कथन है कि जैन उपजातियों का सूत्रपात कभी भी हुआ हो, पर उनका विकसित रूप छठवीं–सातवी सदी के बाद ही दृष्टिगोचर होता है। इसके बाद, इसके अनेक ऐतिहासिक साक्ष्य भी मिलने लगते है। यह भी माना जाता है कि अनेक जैन जातियो का विकास राजस्थान क्षेत्र मे ही हुआ है जैसा सारणी 1 से प्रकट है। वर्तमान मे जैनो मे चौरासी जातिया मानी जाती है। ऐसा माना जाता है कि किसी समय पद्मावती नगर के श्रेष्ठी ने वैश्य महासभा के सगठन के लिये जैन समाज के सदस्यो को बुलाया। उसमे प्रारभ मे 84 स्थानो के सदस्य आये। प्रत्येक स्थान के सदस्यो को एक जातिका मानकर 84 जातियों की स्थापना की गयी। बाद मे इसमे अनेक जातियां और जुड गई। कासलीवाल और साग्वे आदि ने 84 की सख्या को प्रतीकात्मक माना है। वस्तुत. यह सख्या काफी अधिक (237 तक) है। इनमे से अनेक जातिया कालप्रवाह मे विलीन हो गई हैं। फलत आज यह सख्या 84 से भी काफी कम होगी, ऐसा अनुमान है। दिगबर जैनो की जातियो का विवरण 15-18 वी सदी के बीच ब्रह्म जिनदत्त, जिनदास, विनोदीलाल, ब्रम्हगुलाल और वखतराम शाह ने दिया है। इन विवरणो मे पर्याप्त विविधता होते हुये भी 84 की सख्या की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।

जैन जातियो के ऐतिहासिक सर्वेक्षणो से पता चलता है कि वर्तमान की अधिकाश जैन जातिया क्षत्रिय मूल की रही होगी जिन्होने महावीर के द्वारा उपदिष्ट अहिसक जीवन अपनाया। इनके जैनीकरण मे साधुओ एवं भट्टारको के प्रभावी उपदेश एव राजनीतिक परिस्थितिया भी कारण बनी है। वर्तमान मे एक-दो प्रकरणो को छोडकर नयी जातियो का निर्माण प्रायः

अवरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि कुछ जैन जातियों के लोग दिगबर और श्वेताबर दोनो पथों में पाये जाते है (ओसवाल, श्रीमाल, पल्लीवाल, पोरवाल, आदि)। यही नहीं, खण्डेलवाल और अग्रबाल के समान जातिया हिन्दू धर्मानुयायी भी होती है। सभवतः इसका कारण आचार्यों के उपदेश रहे होगे। इनके अनेक गोत्र भी समरूप होते है। जैनों की अनेक जातियों मे समान गोत्र भी पाये जाते है (परवार, गोलापूर्व, गोलालारे, आदि)। कुछ जैन जातियो मे ब्राह्मणों के समान पाण्डेय आदि गोत्र भी पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विभिन्न समयो में ब्राह्मण वर्ग के लोग भी जैन बने होंगे। स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी मे एक जैन छात्र "जैन ब्राह्मण" जाति का था। इन सूचनाओ से यह स्पष्ट है कि जैन जातिवाद उदार रहा है। सभी वर्गों के लोग इसमें सम्मिलित हो सकते थे। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि जाति प्रथा का सबध सामाजिक व्यवस्था से है। इसमें धार्मिक मान्यताओ की स्वतत्रता है।

प्रत्येक जाति अनेक मूलो या गोत्रो में विभाजित है जिसके आधार प्राय पूर्वोक्त ही हैं। इनके आधार पर भी उनके बीच रोटी-बेटी सबंध होते है। प्रारम्भ मे सजातीय सम्बन्धो के कारण कुछ अनुदारता थी, पर समय के साथ इस प्रवृत्ति मे किंचित् उदारता आने लगी है। इनमे कुछ जातियों के सदस्यो की संख्या लाखो मे है, तो कुछ की सैकडों मे ही है। दक्षिण की पचम जाति, ओसवाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार एव श्रीमालों की सख्या पर्याप्त है। आजकल इन्ही के हाथो जैनों का नेतृत्व है।

प्रारम्भ मे प्रत्येक जैन जाति विशिष्ट क्षेत्रो म सीमित रही है। अनेक जातिया राजस्थान मे, अनेक मध्य प्रदेश में, अनेक गुजरात मे या महाराष्ट्र मे आज भी प्रमुखता से पाई जाती है। पर व्यवसाय प्रधान वृत्ति होने के कारण अनेक जातियों की यह क्षेत्र सीमा भग हो रही है और विभिन्न जैन जातियो के लोग भारत के विविध भागों मे पाये जाते हैं। प्रायः सभी प्रमुख जैन जातियो के और समग्र जैन जाति के अनेक उद्देश्य–परक सगठन भी बने है जो जातिहित एव धार्मिक संरक्षण की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करते है। अब अनेक जैन जातियो के इतिहास भी सामने आ रहे है। बीसवीं सदी मे यह स्पष्ट हो रहा है कि मध्य काल मे जातीय अनुदारता के अनेक रूप अब भूतकाल की बात बनते जा रहे हैं और जैन सस्कृति की प्रभावकता बढ़ती जा रही है।

5. जैनतंत्र के भेद

ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक जीवित तत्र या उसकी सजीवता उसके सैद्धान्तिक मतवादो पर आधारित सम्प्रदायो के निर्माण पर निर्भर करती है। ये विशिष्ट मतवाद तत्र के बुद्धिवादी स्वरूप के प्रतीक तो होते ही है, उसके पुरातन और अधुनातन स्वरूप के भी द्योतक है। ये सैद्धान्तिक आधारो पर भी विकसित होते है और परिवर्तनशील परिवेश पर भी निर्भर करते हैं। जैन सघ भी इस परपरा का अपवाद नही रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनतत्र का जाति-आधारित वर्गीकरण सघभेद के बाद ही प्रकट हुआ होगा। यह सघ महावीर के बाद लगभग 150 वर्षों तक तक तो अविछिन्न बना रहा। उसके बाद इसमे विभिन्न समयो पर अनेक भेद प्रवीजित और विकसित हुये। इनमे से दो प्रमुख है–दिगबर और श्वेतांबर। इनका प्रादुर्भाव लगभव 360 ईस्वीपूर्व मे आचार्य भद्रबाहु-स्थूलभद्र के समय मे हुआ होगा जब मगध (बिहार) मे बारह वर्ष का अकाल पडा था। उस समय जो साधुसघ बिहार मे रह गया था, उसने स्थूलभद्र के नेतृत्व में आगमबाचना और आगम सकलन किया। यह बाचना उस सघ को स्वीकार नही थी जो अकाल के समय धर्मरक्षार्थ दक्षिण की ओर चला गया था। यह बाचना साधुओ के दिगबरत्व और परिस्थितिवश आचार पर केन्द्रित थी। इनमे बाद मे स्त्रीमुक्ति, सर्वज्ञ की शारीरिक प्रवृत्तियाँ (दिव्यध्वनि, कवलाहार, आदि) तथा महावीर के विवाह आदि बिन्दु और समाहित हो गये। इसके अतिरिक्त, कुछ धार्मिक आचारो पर भी मतभेद हुये। इसके परिणामस्वरूप प्रथम सदी ईस्वी के लगभग जैन-सघ मे दो स्पष्ट भेद सामने आये। प्रायः सभी विद्वान यह मानते है कि दिगबर सघ अधिक परम्परावादी, कठोर साधुचर्या, सिद्धान्त-परिवर्तन के प्रति अनुदार और अधि-विश्वासी रहा है। इसके विपर्यास मे, श्वेताबर सघ इन विन्दुओ पर अधिक उदार और जैनधर्म-सवर्धक प्रवृत्ति का रहा है। यही कारण है कि इस सघ ने अनेक क्षेत्रो मे अनेक युगो मे उनके इतिहास निर्माण मे भी प्रमुख भूमिका निभाई है। इसके बावजूद भी, ये दोनो संघ मूर्तिपूजक थे और वे पद्रहवीं सदी तक जैन तत्र के प्रमुख सघ रहे। दोनो ही सघो मे अपनी-अपनी चतुर्विध संघ-बद्धता रही।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल मे मुस्लिम-युग मे कट्टरवाद एवं मूर्ति-

भजन की प्रवृत्ति ने जैन-संघ के दोनों ही सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा-विरोधी आन्दोलन हुये। वास्तव में ऐसे विचार मूर्तिपूजको की अनेक कर्मकाण्डी एवं तथाकथित पुण्यानुबधी पापात्मक प्रवृत्तियो के कारण सदियों से प्रगतिशील समुदाय के मन मे उभर रहे थे। इसके फलस्वरूप, 1450 के लगभग लोकाशाह (गुजरात) ने श्वेताबर सम्प्रदाय मे सर्वप्रथम स्थानकवासी (शास्त्र-पूजक) उप-सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके लगभग 100 वर्ष बाद, 1560 मे सत तारण स्वामी ने दिगबर सम्प्रदाय मे भी शास्त्रपूजक तारण पथ की स्थापना की । श्वेताबर स्थानकवासियो मे 1760 में आचार्य भिक्षु ने एक अन्य उपसंप्रदाय की स्थापना की जिसे तेरहपंथी कहा गया। यह सम्प्रदाय आज पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थिति बनाये हुये है। ये अ-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय शास्त्र/आगमो के पूजक हैं और श्वेताबरो मे तो इनकी सख्या एक तिहाई तक मानी जाती है। फिर भी, मूर्तिपूजा का सामान्य जन पर मनोवैज्ञानिक *प्रभाव तो है ही। अत. इस सप्रदाय की महत्ता अब भी बनी हुई है।*

वर्तमान मे, दिगबर. मूर्तिपूजको के दो सम्प्रदाय हैं—तेरहपथी (आगम पथी या तेरह चारित्र पालक) और बीस पथी। तेरहपंथी पूजन में सचित्त पदार्थों का उपयोग नही करते और न ही दूध आदि से अभिषेक करते हैं। बीसपथी सम्प्रदाय का अभ्युदय राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव है जब जैनो ने अपने सरक्षण हेतु हिन्दुओ के अनेक विधि-विधान अपनाये। दक्षिण और पश्चिम भारत में अधिकाश मे बीसपथी पाये जाते है। यहा यह ध्यान मे रखना चाहिये कि श्वेताबर तेरहपथी शास्त्रपूजक होते है जबकि दिगबर तेरह पथी मूर्तिपूजक होते है।

इन पथो के अतिरिक्त, जैनो मे अनेक अन्य पथ भी हुये है। दूसरी - तीसरी सदी के लगभग यापनीय सघ का उदय हुआ था जिसके सिद्धान्त दिगबर-श्वेताबर मतो के समन्वय पर आधारित थे। यह मत मध्य काल तक जीवित रहा। अब यह सम्भावना है कि यह दिगबर पथ में समाहित हो गया। सोलहवी सदी में एक और जैन पथ का उदय हुआ जिसे अध्यात्म पथ कहते हैं। इसका प्रारंभ बनारसीदास ने किया था और बाद मे इसे पण्डित टोडरमल और कानजी स्वामी ने आगे बढाया। इस पथ मे दिगम्बर और श्वेताबर दोनो परम्परावादी सम्प्रदायो के लोग सम्मिलित हुये है। इनकी सख्या पाच लाख तक बतायी जाती है। इस पथ को शुद्धाम्नाय भी

कहते हैं। इसमे निरपेक्ष तत्व (निश्चयनय) की प्रधानता है। आचार्य कुदकुंद को इस पथ का प्रथम उद्घोषक माना जाने लगा है। इन पथो के अतिरिक्त, अनेक छोटे-मोटे अल्पस्थायी पथो ने भी जैन सघ मे जन्म लिया पर वे कभी भी महत्व न पा सके।

6. जैन आगम साहित्य

भारत मे जैन मुख्यधारा के महत्वपूर्ण अल्पसख्यक समुदाय के प्रतिनिधि है जो उसकी जनसख्या का लगभग 1 प्रतिशत है। भारतीय सस्कृति के विकास मे उनका योगदान उनके संख्यात्मक अनुपात से कही अधिक व्यापक एव प्रभावकारी है। यह कहा जाता है कि जैन अपने आगम साहित्य, साधु, मन्दिर, सघ-बद्ध स्वरूप, तीर्थयात्रा एव अनेक विश्वकल्याण-कारी प्रवृत्तियों के कारण ही, विषम परिस्थितियों मे भी, अपने को सुरक्षित, सरक्षित एव सवर्धित कर सके। आगम शब्द से उन पवित्र पुस्तको का बोध होता है जिनमे धार्मिक आचार-विचार सहिता एवं नैतिकता प्रेरक धर्मकथाये सग्रहीत हैं। ये न तो ईश्वरीय है और न ही ईश्वर-प्रेरित है। इनमे अन्तर्जगत के अनुभवो को प्राप्त करने वाले महापुरुषो के द्वारा उपदिष्ट लोकहित एव अध्यात्महित से सबधित वचनो का सार है। जैनो की मूलभूत आगम पुस्तके अन्य तत्रो की अपेक्षा अपनी विषयवस्तु के कारण विशिष्ट हैं। इनमे न तो कथात्मक वर्णन है, न इतिहास है और न ही पूजावदना आदि है। इनमे नैतिक और आध्यात्मिक उपदेश हैं जो मानव के लौकिक जीवन को समुन्नत करते है। जैनो के उत्तरवर्ती साहित्य मे अन्य तत्रों के समान कथात्मक विवरण आदि सुबोध विधिया भी समाहित हुई है। जैनों का मूल आगम साहित्य चौथी सदी ई० पू० से पाचवी सदी ई० के बीच चार आगम वाचनाओ–पटना, (360 ई०पूर्व), कुमारी पर्वत (उडीसा, 180 ई० पूर्व), मथुरा–बलभी (315 ई० और बलभी (450-460 ई०)–के माध्यम से सकलित एव लिपिबद्ध किया गया है। कलिग वाचना ने दिगबर आगम-कल्प ग्रन्थो का सकलन किया और अन्य वाचनाओ मे श्वेताम्बर–मान्य आगमो का सकलन एव लिपिबधन हुआ। इन आगमो के मूलकर्त्ता तो तीर्थकर (सर्वज्ञ) माने जाते हैं लेकिन उसे सूत्र और ग्रन्थ रूप मे प्रस्तुत करने वाले उनकी परम्परा के गणधर और उत्तरवर्ती आचार्य माने जाते है।

यद्यपि आगमों में जैनों के मूल सिद्धान्त बताये गये हैं, फिर भी वाचनाओं में भिन्नता के कारण दोनो सम्प्रदायो मे उनकी मान्यता के विषय में कुछ चर्चा पाई जाती है।

जैनों का आगम साहित्य तीन कोटियों मे वर्गीकृत किया जाता है--(1) पूर्व या पूर्व-आगम (2) आगम और आगमकल्प ग्रन्थ और (3) पूरक या उप-आगम। पूर्व आगमों के 14 ग्रन्थ हैं जो अब अनुपलब्ध हैं। लेकिन इनकी विषय वस्तु 12 आगम ग्रन्थों के बारहवें ग्रन्थ (दृष्टिवाद) के एक अश के रूप में समाहित की गई है। आगमो को शास्त्रों में "अंग" कहा जाता है। इनकी सख्या बारह है जिनमें आचारांग, सूत्र कृताग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि प्रमुख है। बारहवा दृष्टिवाद अंग सबसे विशाल है, पर उसे लुप्त माना जाता है। पूरक या उप-आगमों को "अगबाह्य" कहा जाता है। इनकी सख्या समय-समय पर परिवर्ती होती रही है। इनमें से उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और रिषिभाषित के समान कुछ ग्रन्थ आगमो के समान प्राचीन है। पर कुछ तो उत्तरवर्ती 5-6 वीं सदी में भी लिखे गये हैं। इन उप-आगमों के पाच वर्ग है—(1) 12 उपाग (2) छेद-सूत्र (3) मूल-सूत्र (4) प्रकीर्णक और (5) चूलिका। इन आगमो मे साधु आचार और नियम और इनके उल्लघन पर दड व्यवस्था जैन तत्र के मुख्य सिद्धान्त, प्रेरक धर्म कथाये एव पुराणकथाये तथा सवाद और तर्कवाद के माध्यम से अन्य दर्शनो के खडन एव जैन-मत मडन पाये जाते है। अगवाह्य ग्रन्थो में भी यही विषय-वस्तु पाई जाती है लेकिन उनमे कर्मकाड, लोकशास्त्र (भूगोल), प्रार्थनाये एव स्तुतियां एव मुनि चर्चायें भी उल्लिखित हैं। इन आगम और उप-आगमों की सख्या 32 से 84 के बीच मानी जाती है जो श्वेतांबरों के विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा मान्य एवं विभिन्न समयो में रचित ग्रन्थों पर आधारित है। फिर भी, मुख्य आगम ग्रन्थ 32 ही माने जाते हैं जिनका आधार दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का स्मृति ह्रास है।

दिगंबर सम्प्रदाय में जैन आगमो का इतिहास कुछ विशिष्ट ही है। यद्यपि वे भी आगम साहित्य के उपरोक्त तीन वर्गों को मानते हैं लेकिन वे केवल 26 ग्रन्थों को ही मानते हैं। इनके पूर्व-आगम एवं आगम-ग्रन्थों के नाम समान हैं पर उनके उप-आगमों के बहुतेरे नाम समान है पर अन्य कुछ नाम भिन्न भी हैं। तथापि, उनकी मान्यता है कि यह सब आगम साहित्य लुप्त या स्मृति—ह्रासित हो चुका है। इसके विपर्यास मे, वे दो मूल

आगम–कल्प कोटि के ग्रथ मानते हैं–एक षट्खडागम है जो कर्म सिद्धान्त का विवरण देता है और दूसरा कषाय प्राभृत है जो कर्म प्रभावक कषायो को निरूपित करता है। इन दोनो की विषय वस्तु विलुप्त पूर्व आगमो से ली गई है। इन दोनो ग्रन्थो की रचना दूसरी सदी के आसपास हुई है। इसके अतिरिक्त, उत्तरवर्ती काल के भी अनेक ग्रन्थ इस कोटि मे माने गये है। मालवणिया ने बताया है कि दिगबरो में आगमो के स्मृति-ह्रास-जन्य क्रमिक विलोपन की दर श्वेताम्बरो की तुलना मे काफी अधिक है। इस तथ्य के कारणो पर विचार करने की आवश्यकता है।

वर्तमान मे उपलब्ध आगम ग्रन्थो की मान्यता के विषय में जो भी स्थिति हो, यह स्पष्ट है कि यह साहित्य विशाल है। परिमाणात्मक रूप से इसके पदो की सख्या प्राय. एक काल्पनिक सख्या (2^{64}-1) है। इस साहित्य पर काकदृष्टि डालने पर यह अनुमान लगता है कि जैन तत्र की विविध अवधारणाओ, आचार-नियमो एव विचारसरणियों के विकास का एक अपना इतिहास है। इस दृष्टि से इनका अध्ययन सशोधको के लिये एक रोचक विषय है।

7. जैन कला और स्थापत्य

जैन प्राचीन काल से ही अपनी सास्कृतिक विरासत के लिये गौरवशाली रहे हैं। इनकी विविधा-भरी कला मे धार्मिक झुकाव है। प्रारम्भ से प्रमुखत. मूर्तिपूजक होने के कारण ये प्रतिमा-विज्ञान और मूर्ति-निर्माण कला के सशक्त विशेषज्ञ रहे है। उन्होने तीर्थंकरो की मूर्तिया विभिन्न वस्तुओ से (पत्थर, सगमरमर, धातु आदि) विभिन्न आकार-प्रकार और आसनो (खड्गासन पद्मासन) मे बनाई है। उन्होने चट्टानो मे भी मूर्तिया खनित की है। सभी मूर्तिया परिमाणात्मक सूक्ष्मता से बनाई गई हैं। उनकी आकर्षक ध्यानमुद्रा की आकृति है जो सासारिक जीवन से सफल निवृत्तिमार्गी जीवन की ओर मुडने को प्रेरित करती है। उनमे बहुतेरी मूर्तियो ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है–इनमे से एक कर्नाटक के श्रवणबेलगोला के भगवान् बाहुबली (983 ई०) की है और दूसरी बडबानी (म०प्र०) के भगवान् ऋषभदेव की है। ये अपनी ऊचाई और भव्यता के लिये विख्यात है। सभी जैन प्रतिमायें

विधिवत् प्रतिष्ठित होने के बाद ही पूजनीय होती हैं। अप्रतिष्ठित एवं खडित मूर्तियो की पूजा नहीं की जाती। ये प्रतिष्ठा महोत्सव जैनों के विशिष्ट, भव्य और सस्कृति–सम्वर्धक सप्तदिवसीय आयोजन है जिनमे लाखों लोग भाग लेते है और धार्मिक कार्यों के लिये पर्याप्त आय होती है। इस सदी मे ऐसे उत्सवो की आवृत्ति बढ़ रही है और समग्र भारत मे उनका प्रसार है।

जैन मूर्तियां भारत के विभिन्न भागो मे प्रायः 400 ई० पूर्व से ही पाई जाती हैं। इनकी संख्या अगणित हैं। किसी भी सग्रहालय में विभिन्न मूर्तियो के अवलोकन से यह अनुमान लगाना सहज है कि मूल सामग्री एवं सौन्दर्य की दृष्टि से जैन प्रतिमा विज्ञान का विकास किस प्रकार हुआ है।

गुजरात में पालीताना (शत्रुजय) जैन प्रतिमाओ की विविधता और सौन्दर्य के लिये विख्यात है। प्रारभ में, प्रतिमायें दिगंबर और बिना चिन्ह के ही बनाई जाती थीं। लेकिन बाद मे (4-5 वीं सदी) मूर्तियों पर प्रतीक अकित किये जाने लगे-सिंह (महावीर), फणयुक्त सर्प (पार्श्वनाथ) और वृषभ (रिषभनाथ) आदि। कभी-कभी मूर्तियों के पादमूल मे प्रतीको के अतिरिक्त दोनो ओर अष्टमगल द्रव्य भी अकित किये जाते है। मूर्ति निर्माण कला मे बाद में यक्ष-यक्षी के समान भक्त देवी-देवताओं (शासन-देवताओ) को भी अकित किया जाने लगा। इन प्रतिमाओ की विविधता भी मनोहारी है। कुछ प्रतिमाऐ चतुर्मुखी होती है। कुछ में चौबीसी होती हैं। अब नदीश्वर द्वीप आदि मे समवशरण की रचना भी समाहित की जाती है।

मूर्तिनिर्माण कला का एक रूप तीर्थंकरो या पूज्य पुरुषो के चरण चिन्हो के रूप मे भी पाया जात है। ये चरण चिन्ह उस पथ के पथिक बनने की ओर प्रेरित करने की ओर स्मरण कराते है जो हमे उत्तम सुख प्रदान करे।

प्रतिमा विज्ञान के उत्तरवर्ती विकास काल मे सप्रदायगत पहिचान के लिये मूर्तियो को सज्जित एव चिन्हित रूप मे बनाया जाने लगा। ये मूर्तियां श्वेतांबर सम्प्रदाय मे पाई जाती है। इनको भी अंजन शलाका के समान उत्सवो के माध्यम से प्रतिष्ठित किया जाता है।

जैन प्रतिमाओ के निर्माण की कला भारत के गुजरात और राजस्थान राज्यो मे बहुप्रचलित है और प्रतिष्ठित मानी जाती है। अब तो भारत मे

निर्मित जैन मूर्तिया विदेशों में बने जैन मंदिरों में भी प्रतिष्ठित की जा रही है (कीनिया, लेस्टर, सिद्धाचल, शिकागों, सांफ्रासिस्को आदि)।

जैनों में स्थापत्य कला के अन्तर्गत मदिर निर्माण कला भी उत्कृष्ट कोटि की पाई जाती है। ये मदिर अपने स्थापत्य की डिजाइन के आधार पर क्षेत्र विशेषों की दृष्टि से विशेषित किये जा सकते हैं। मदिर पूजा के स्थल होते हैं, जहां जैन मूर्तिया और उनके शासक और सरक्षक देवी - देवता पत्थर या सगमरमर की बनी भव्य वेदियों पर यथास्थान विराजित रहते हैं। खजुराहो, देवगढ, आबू, राणकपुर आदि स्थानो में मदिरों मे अचरजकारी नक्काशी भी पाई जाती है। हस्तिनापुर, मथुरा आदि स्थानो पर बने मंदिरो में उनके सामने स्तूप बने होते है जो मंदिर परिसर की भव्यता प्रदर्शित करते हैं। बहुतेरे मदिरों के सामने मानस्तभ के स्तभ होते हैं जो कषायों या अशुभ मनोभावो के विदलन को प्रेरित करते हैं। ये जैन मदिर निर्माण कला की विशेषता हैं।

उडीसा, विहार और दक्षिण भारत में पत्थर और चट्टानों में गुफामंदिर भी बनाये गये हैं। कुछ गुफामंदिर पालिस किये पत्थर के बने हाते हैं और उनमे पत्थर का ही नीला चबूतरा होता है जो सल्लेखना या समाधि स्थल होने का संकेत देते हैं। ये समाधि स्थल भी मंदिरों के समान पूज्य माने जाते हैं। सम्मेद शिखर पर्वत, इसीलिये, वदनीय माना जाता है।

जैन मंदिर नागर और द्रविड शैली की कला के प्रतीक हैं। ये मदिर सामान्य जैन बस्तियों के अतिरिक्त, कुछ विशेष स्थानो पर भी बनाये जाते है जो मदिर-नगर के रूप में विकसित हो जाते हैं। ऐसे नगरो मे पाली-ताना, अहार, कुडलपुर, राजगिर आदि नगर प्रसिद्ध है। यह मंदिर निर्माण कला आज भी प्रतिष्ठित रूप मे अविरत रूप में प्रगतिपथ पर चल रही है।

अनेक मदिरो की भीतरी दीवारों पर एव गुफाओं में पेन्टिंग की कला भी प्रदर्शित की जाती है। इसमे धार्मिक एवं पैराणिक कथायें, तीर्थंकरो के जीवन की प्रमुख घटनायें, माताओं के स्वप्न, पौराणिक दृश्य तथा चित्र कथाये होती हैं। इसी प्रकार ताडपत्रीय लेखन की कला भी जैनों मे प्रसिद्ध रही है। अनेक जैन शास्त्र-भण्डारो में इसके मनोरम रूप देखने को मिलते हैं। लकड़ी की कशीदाकारी की कला भी अनेक मंदिरों में देखी जाती है। यह कला गुजरात में बहुत प्रचलित है। घरों में पाये जाने वाले देवालयों

में इसका मनोहारी रूप बड़ा आकर्षक होता है। इन कलाओ में से अब कुछ का महत्व और अस्तित्व क्रमश . कम होता जा रहा है।

जैन कला और स्थापत्य का प्रमुख उद्देश्य जैन संस्कृति का सरक्षण एवं संवर्धन रहा है। यह धर्म श्रद्धालुओ में आतरिक दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आनद भी देती है। इससे इनके निर्माताओ की प्रतिष्ठा भी बढती है। जैनो का विश्वास है कि कला सत् धर्म भावना की प्रतीक है। कला के धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त, यह राष्ट्र की सास्कृतिक धरोहर का भी प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि बहुत से जैन धार्मिक कला केन्द्र पर्यटको के आकर्षण केन्द्र (खजुराहो, पालीताना आदि) भी बन गये है।

8. धार्मिक यात्रा हेतु पवित्र स्थल : तीर्थ क्षेत्र

अन्य धर्मतत्रो (बौद्धो के लिये बुद्धगया और सारनाथ, हिन्दुओ के लिये चारो धाम, मुस्लिमो के लिये मक्का-मदीना, ईसाइयो के लिये बेटिकन सिटी और यहूदियो के लिये यरूशलम आदि) के समान जैनो के भी अनेक पवित्र तीर्थ स्थान है। परम्परागत जैन अनुयायी इनकी यथाशक्ति यात्रा करना अपना कर्तव्य समझते है। यद्यपि मुस्लिमो के समान दानपात्र एवं यात्रा जैनो मे अनिवार्य कर्तव्य नही माना जाता, फिर भी तीर्थ यात्रा पर लोगो की श्रद्धा है। तीर्थस्थान ऐसे पवित्र स्थान माने जाते हैं जहा कोई विशिष्ट धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण या पुण्यकारी घटना घटी हो और जहा जाने पर उसके दर्शन-स्मरण से भावात्मक विशुद्धि एव उत्कृष्ट जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रेरणा मिले। वर्तमान मे तीन प्रकार के तीर्थ स्थान पाये जाते है–(1) निर्वाण क्षेत्र (2) अतिशय क्षेत्र और (3) कला क्षेत्र। निर्वाण क्षेत्र ऐसे पवित्र स्थान है जहा से तीर्थंकरो, शलाकापुरुषों तथा साधुओ ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर सिद्धि पाई हो। इस प्रकार के क्षेत्रो के विवरण "निर्वाण काड" नामक प्राकृत रचना मे दिया गया है। उनकी यात्रा महान् पुण्यार्जनी मानी गई है। यह एक बाह्यतप के रूप मे भी मानी जाती है। ऐसे क्षेत्रो मे पारसनाथ, चपापुर, तथा पावापुर बिहार प्रदेश में हैं, गिरनार गुजरात मे है, कैलाश हिमालय मे है। ये चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमिया है। इसके अतिरिक्त, शत्रुजय, तारंगा,

द्रोणगिरी, चूलगिरि, श्रवणगिरि आदि भारत के कोने-कोने में फैले अनेक तीर्थ क्षेत्र है जहां से विभिन्न युगो मे अनेक साधुओं ने सिद्धि पाई है। इन तीर्थक्षेत्रो की विशेषता यह है कि ये प्राय. पर्वतीय उपत्यकाओं मे स्थित है। इनकी यात्रा पर्वतारोहण की कला का पूर्वाभ्यास कराती है। इस दृष्टि से ये स्वास्थ्य केन्द्र भी माने जा सकते है। इस प्रकार धार्मिक महत्व के अतिरिक्त, इन क्षेत्रो का मनोवैज्ञानिक और शारीरिक महत्व भी है। इनकी यात्रा जैनो मे धर्म के प्रति श्रद्धा को प्रवलित करती है और साधर्मियों मे भाईचारे की भावना को बलवती बनाती है।

दूसरे प्रकार के तीर्थ क्षेत्र "अतिशय क्षेत्र" कहलाते हैं। ये क्षेत्र (1) तीर्थकरो एव महापुरुषो के जन्म, दीक्षा एव ज्ञान प्राप्ति के स्थान हैं या (2) इन पर ऐसी प्राकृतिक या अचरजकारी घटनाये हुई है जिनसे जैनधर्म के प्रति विश्वास और प्रभावना मे योगदान हुआ हो। इस कोटि के स्थानो का कलात्मक महत्व भी सभव है। इस प्रकार के क्षेत्रो मे वाराणसी, अयोध्या, राजगिर, श्रवणबेलगोला, बावनगजा, खजुराहो, पपौरा, महावीर जी, तिजारा एव अन्य स्थान आते है। ये स्थान प्रायः समतल स्थानो पर होते है। कुछ अपवाद भी है लेकिन इनके साथ भी भक्ति एव पुण्यार्जन की भावना सहचरित रहती है। ये क्षेत्र भी भारत के चारो कोनो मे फैले है। इन क्षेत्रो का मनोवैज्ञानिक महत्व भी माना जाता है। कहते है कि इनकी यात्रा से मनोकामनाये भी पूरी होती है।

तीसरी कोटि के पवित्र स्थान जैन कला एव स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। इसलिये इनका महत्व द्वि-कल हो जाता है—कलात्मकतः और धार्मिकत.। इन स्थानो के मदिरों मे न केवल मंदिर ही, अपितु प्रतिष्ठित प्रतिमाये भी मनोज्ञ होती है। आबू, राणकपुर, मथुरा, खडगिरि, खजुराहो आदि स्थान इस कोटि मे आते है। वर्तमान मे ऐसे अनेक क्षेत्रो का निर्माण हो रहा है जो इस कोटि मे आते है। इन्दौर का गोम्मटगिरि, अमरकटक का सर्वोदय तीर्थ आदि सभवत. इसी कोटि मे आवेगे। पर तीर्थ क्षेत्र किसी भी कोटि का क्यो न हो, उसकी यात्रा मनोवैज्ञानिकतः आत्मशुद्धि एव स्वास्थ्य शुद्धि मे कारण होती है।

चटर्जी ने भारत के विभिन्न भागो मे फैले हुए लगभग 290 जैन तीर्थक्षेत्रो की सूची दी है। इससे प्रकट होता है कि जैनों के विभिन्न कोटि

के तीर्थ क्षेत्र भारत के कोने-कोने में फैले हुए हैं। इनके कारण जैनतंत्र को न केवल समग्र भारतीयता प्राप्त होती है, अपितु जैन संस्कृति की जीवंतता का आभास भी होता है। इनसे जैन संस्कृति के विभिन्न रूपो के अखिल भारतीय महत्व एवं सामर्थ्य का भी प्रतिभास होता है।

9. जैनों के कर्मकांड : विधि-विधान और पर्व

मनोवैज्ञानिको ने मानव-मस्तिष्क की प्रकृति और उसके व्यवहारों का अध्ययन किया है। उनका यह मत प्रतीत होता है कि उत्सव और कर्मकांडों की पृष्ठभूमि मे ही धर्म-तत्र विकसित होते है। विभिन्न प्रकार के उत्सव या कर्मकाड व्यक्ति के समाजीकरण के साधन हैं, तंत्र-विशेष के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव के द्योतक हैं, मानव की मनोवृत्तियो एव विचारधाराओं के परिवर्तन के प्रतीक है और मानव की अतरंग कामनाओ के प्रकाशक है। वे मनुष्य के भौतिक कल्याण के लिये तथा धार्मिकता के सम्वर्द्धन के लिये पवित्र औषध है। ये कर्मकाड और उत्सव विश्व के प्रत्येक धर्मतंत्र के अनिवार्य अग है। इन्हें रूढ़ि मात्र कहना अपने अज्ञान को व्यक्त करना है। ये विधि-विधान कई रूपों में होते है। कुछ भक्तिवादी हाते हैं (पूजा, प्रार्थना, मत्रोच्चार, जप, स्तुति आदि), कुछ उत्सवपरक होते है (पच कल्याणक या अजनशलाका प्रतिष्ठा, मूर्तियो का अभिषेक और महाभिषेक, गजरथ-यात्रा, महापुरुषो के जन्म या निर्वाण दिवस आदि)। इनके अन्य रूपो मे कुछ मनःशुद्धिकारी, कुछ प्रायश्चितकारी और कुछ प्रशंसाकारी रूप भी होते हैं। ये सभी प्रकार के विधि-विधान सम्यक् दर्शन के प्रभावना नामक आठवे अग के विविध रूप ही माने जाते है। ये व्यक्ति को भी प्रभावित करते हे और समाज को भी प्रभावित करते हैं। ये व्यक्ति को बाह्य जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाते हें। इनका प्रभाव परोक्षतः ही ज्ञात होता है। समाजशास्त्रियो का यह सामान्य मत है कि बुद्धिवादी लोग कुछ भी कहे, विधि-विधान और धर्म को पृथक् नही किया जा सकता।

धर्म के इस समाजशास्त्रीय एव नैतिकता-वर्धक रूप के क्षेत्र मे जैन कैसे पीछे रह सकते है ? वे अन्य तत्रो की तुलना मे अपने उत्सव और विधि-विधानो के कारण एक महनीय एव विविधतापूर्ण सांस्कृतिक तथा

धार्मिक जीवन बिताते हैं। अब तो भूतकालीन व्यक्तिवादी विधि-विधान भी समाजीकृत हो गये हैं। भक्तिवादी विधि-विधानों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की भौतिक और मानसिक पूजायें, अभिषेक, प्रार्थना और भजन, सामायिक, धर्मोपदेश–श्रवण आदि की प्रक्रियायें समाहित होती हैं। सामाजिक उत्सवपरक विधि-विधानो के अन्तर्गत अनेक बहुव्ययी भी होते हैं। इनमें तीर्थंकर मूर्तियों की पूजनीयता के लिये उनके जीवन की गर्भ से लेकर निर्वाण तक की पाच पवित्र घटनाओं के प्रतीक के रूप में किये जाने वाले पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव या अन्य प्रकार के उत्सव, वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव, तथा इद्रध्वज, कल्पदुम, सिद्धचक्र विधान आदि समाहित होते है। साधुओं का दीक्षा महोत्सव भी एक ऐसा ही उत्सव है। ये बहुदिवसीय एवं महाप्रभावक आयोजन होते है जो जैन संस्कृति की प्रभावना में महान योगदान करते है। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है। अब तो ये उत्सव लेस्टर, नैरोबी, शिकागों आदि विदेशी नगरो मे भी सम्पन्न होने लगे हैं। इनसे जैन सस्कृति की जीवतता एव रग-विरगेपन की गरिमा प्रकट हुई है।

जैनो मे विधि-विधानों के अतिरिक्त, अनेक अन्य उत्सव भी होते हैं। इन्हे सामान्यतः 'पर्व'' कहा जाता है। ये पर्व गन्ने की गाठो के समान धार्मिकता को प्रबलित करते हैं और जीवन को समग्रतः भौतिक और आध्यात्मिक रूप से रसमय बनाते है। ये धार्मिक क्रियाओ और लक्ष्यों के स्मारक है। कुछ उत्सवो मे कर्मकाड भी समाहित होता है। अगस्त-सितम्बर मे मनाया जाने वाला 8-10 दिनों का पर्यूषण पर्व 'पर्वराज' कहलाता है। इन दिनो धार्मिक क्रियाओ के अनुष्ठान, स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचन और कथा पाठ किचित् तीक्ष्णता से किये जाते है। उपवास, ऊनोदरी आदि से भौतिक लाभ भी प्राप्त किये जाते है। रत्नत्रय, षोडशकारण, अष्टान्हिका, नदीश्वर आदि व्रतो के परिपालन की पूर्णता के समय भी वर्ष के विभिन्न अवसरो पर उत्सव आयोजित किये जाते है। महावीर निर्वाण के स्मारक के रूप मे प्राय अक्टूबर–नवम्बर मे मनाये जाने वाले दीपावली उत्सव (प्रकाश-दीप उत्सव) को कौन भूल सकता है ? यह जैन सस्कृति का ही नही, समग्र भारतीय सस्कृति का प्रकाशक उत्सव कहा जाता है। श्रुतपचमी का पर्व हमे महावीर के प्रथम उपदेश और श्रुत–सरक्षण के प्रयत्नो का स्मरण कराता है। अगस्त मे पडने वाला रक्षाबधन पर्व तो जैनो का ही नही,

संसार का ही विशिष्ट पर्व है जिसमे समाज के दुर्बल सदस्य-विशेषतः महिलाये अपने से अच्छी स्थिति वाले समुदाय से भ्रातृभाव को एक भौतिकतः कमजोर पर मानसिकतः प्रबल सूत्र बंधन से सुदृढ करते है और एक-दूसरे की सुरक्षा को संबल देते हैं। क्षमावाणी और प्रायश्चित सबत्सरी का व्रत भी जैनो की एक विशेषता है जिसे आजकल "विश्व-क्षमावाणी दिवस" के रूप में संसार के अनेक भागो में मनाया जाने लगा है। इस दिन समाज के व्यक्ति एक दूसरे से अपनी जाने -अनजाने हुई भूलो के लिये क्षमा मांगते है और भविष्य मे उत्तम व्यवहार के लिये वचनबद्ध होते है। यह सामाजिक भाईचारा को सवर्धित करने वाला महान पर्व है। यह पर्यूषण पर्व का समारोपक उत्सव है। जिन वाणी सग्रहो की सूची के अनुसार जैनो के पर्वों और व्रतो की सख्या प्रतिवर्ष 250 से अधिक ही बैठती हे। इससे यह सकेत मिलता है कि यदि अन्य प्रकार के धर्म प्रभावना के आयोजन जोडे जावे, तो वर्ष का प्रत्येक दिन ही व्रत–विघान का दिन माना जाना चाहिये।

आजकल सामूहिक मत्र-स्तोत्र पाठ (णमोकार मंत्र, भक्तामर स्तोत्र आदि) और भजन-स्तुतिया भी उत्सव के रूप मे आयोजित होने लगे है। यही नही, पर्व के दिनो मे धार्मिक उद्देश्यो एव कथाओ से सम्बन्धित नृत्य, नाटक-नाटिकाये आदि के कलात्मक प्रदर्शनो की ओर भी नई पीढी का ध्यान जाने लगा है। विदेशो मे यह प्रक्रिया अग्रेजी भाषा के माध्यम से भी प्रदर्शित होने लगी है। अनेक लोग यह अनुभव करते है कि सभवतः एक वर्ष मे जितने दिन होते है, उससे कही अधिक पर्व और उत्सव होते है। तथापि यह ध्यान में रखना चाहिये कि अनेक उत्सव वैकल्पिक या स्वैच्छिक होते है और व्यक्ति या समूह उनका चयन कर उन्हे मनाते है। ये पर्व और उत्सव तथा विधि–विधान जैन-तत्र के भूतकालीन एव वर्तमान प्रभावकता, रगीलेपन एव जीवतता के प्रतीक है। वस्तुत. ये जैन-तत्र के सरक्षित बने रहने के एक महत्वपूर्ण कारण रहे है।

10. जैन सिद्धान्तों का प्रभावी सम्प्रेषण

जैनाचार्यो ने जैन सिद्धान्तो के प्रभावी सम्प्रेषण के लिये अनेक उपाय

किये है। प्रारभ में, इन उपायो मे उपदेश श्रवण ही प्रमुख माध्यम था। इसके बाद पाठ्य सामग्री रची गयी। इस तरह श्रव्य के साथ पाठ्य माध्यम भी विचार सम्प्रेषण का घटक बना। दोनो ही माध्यमो में धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित कथा–कहानियों का अच्छा उपयोग किया गया। उत्तरवर्ती आचार्यो ने अनुभव किया कि सामान्य जनता के लिए श्रव्य एवं पाठ्य माध्यमों की अपेक्षा दृश्य एवं प्रतीकात्मक सप्रेषण मनोवैज्ञानिकतः अधिक प्रभावकारी विचार सम्प्रेषण माध्यम हो सकते है। उस युग मे दृश्य-श्रव्य माध्यमों का विकास नही हुआ था जो श्रव्य माध्यम से भी अधिक प्रभावकारी होते हैं।

दृश्य माध्यमो के रूप में जैनाचार्यों ने अनेक प्रतीकात्मक चित्रो द्वारा अपने सिद्धान्त समझाने के प्रयास किये। यह विधि अन्य तत्रो मे कम ही देखी जाती है। ये प्रतीकात्मक चित्र समझने के लिए लोकप्रिय एव दृश्य रूप मे व्यक्त किये जाते है। यह चित्र–अभिव्यक्ति जैनाचार्यों द्वारा सुविचारित रूप से विकसित एक युक्ति है जो आध्यात्मिक तत्वो का अतरग अर्थ समझने मे सहायक होती है। इसके उपमान और रूपक गहन अर्थ को सरल और सुबोध बना देते है। यहा हम कुछ प्रतीकात्मक विचार संप्रेषक चित्रो का सक्षेपण देगे।

(अ) ॐ, ओम्, :–ओम् का प्रतीक अनेक तत्रो मे माना जाता है। इसके लिखने की विधिया भी अनेक है। विदेशी धर्म तत्रो मे इसे "आ-मैन" के द्वारा निरूपित किया जाता है। यह प्रतीक किसी भी प्रवृत्ति के आदि-अत मे विलगित या सम्मिलित रूप मे पढा जाता है। ध्यान क्रिया का प्रारभ तो ओम् ध्वनि के तीन बार पाठ से ही होता है। इसका पाठ शरीर की ऊर्जा को वहिर्गमित होने से रोकता है एव साधना के लक्ष्य तक पहुचाता है। यह "सोऽह" और "अब-मन" का परिवर्धित और व्याकरणिक रूप है। ओम् की ध्वनि पूर्णता एव अनतता की प्रतीक है। जैनतत्र मे इसे पच परमेष्ठी का प्रतीक माना जाता है जो हमारे आदर्श

चित्र ३ ओम् का चित्र

आराध्य हैं। यह त्रिरत्न का भी प्रतीक है। यह ब्रम्हा, विष्णु और महेश की शक्तियो का भी प्रतीक है। यह प्राण-शक्ति का भी द्योतक है। यह नाडी संस्थान की नियंत्रक है। कुछ लोगो का कथन है कि यह अनेकातवाद की त्रिपदी का भी प्रतीक है।

यह माना जाता है कि जब तीर्थकर को सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तब उसके शरीर से स्वतः ही तात्कालिक ओम् ध्वनि प्रस्फुटित होती है। यह ध्वनि सकारात्मक ऊर्जा का सांद्रित रूप है। इसके उच्चारण से मन शांत और पवित्र होता है। फलतः ओम् का प्रतीक पचपरमेष्ठी का स्मरण कराता है, आतरिक ऊर्जा के सचय को प्रेरित करता है और मानसिक एकाग्रता को बढाने के सदेश देता है। यह अनेक मत्रो का प्रभावी बीजाक्षर है जो कल्याणकारी माना जाता है। "ओम् हृीं अर्ह" एक ऐसा ही महाप्रभावी बीजाक्षरी मत्र है जो जपको को शक्तिशाली बनाता है।

(ब) स्वस्तिक :-स्वस्तिक का प्रतीक भी अनेक तत्रो मे माना जाता है। यह मगल, समृद्धि और कल्याण का प्रतीक है। ओम् के समान मागलिक अवसरो पर स्वस्तिक भी लिखा जाता है। जैनतत्र के अनुसार, इसकी चार भुजाये ससार की चार गतियो-नरक, देव, पशु और मनुष्य–की निरूपक है। यह प्रतीक स्मरण कराता है कि जीवन का लक्ष्य इन गतियो के परिभ्रमण से मुक्त होना है। स्वस्तिक को अष्ट मगल द्रव्यो मे से एक माना जाता है। पाच स्वस्तिको के विशिष्ट ज्यामितीय एव कलापूर्ण समुच्चय को नद्यावर्त कहते है। यह प्रतीक सौभाग्य एव मगल का द्योतक है। स्वस्तिक लिखकर भी बनाया जाता है और माडलो (मोडल आदि मे) मे रग-विरगे पूर्ण-तडुलों के दानो से भी बनाया जाता है।

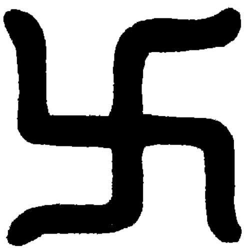

चित्र 4. स्वस्तिक का चित्र

(स) संसार कूप : जैन मान्यता के अनुसार यह विश्व गहन एव

काटेदार वृक्षो से भरा हुआ एक गहरा कुआ है। इन वृक्षो पर शहद के छत्ते लगे हुये है। इस संसार मे मधु-बिन्दु के समान सुख की मात्रा कम और दुख की मात्रा विशाल है। यह मनुष्य उस अल्प मधु-विदु की आशा मे सारा जीवन दु ख मे बिताता है। जैनतत्र का ससारकूप प्रतीक एक ओर ससार की सुखमयता की उद्घोषणा करता है, वही दूसरी ओर यह सकेत भी देता है कि हमे इसमे सुखमयता बढाने के उपाय करने चाहिये।

चित्र 5 ससार कूप

(द) लेश्या-वृक्ष : जैन मान्यता के अनुसार, मनुष्य के मनोभाव और प्रवृत्तिया छह प्रकार की होती हैं-तीन शुभ और तीन अशुभ। किरिलियन फोटोग्राफी द्वारा यह पता चलता है कि प्रत्येक मनुष्य के चारो ओर एक रगीन आभामडल रहता है जो उसकी मानसिकता व्यक्त करता है। क्रूर भावो के आभामडल का रग काला नीला और भूरा होता है तथा शुभ भावो के आभामडल का रग पीला लाल और सफेद होता है। वस्तुत मनुष्य के मनोभाव उसकी आध्यात्मिक प्रगति के निरूपक है। लेश्यावृक्ष एक फलदार पेड है जिसके फलो को खाने के लिये छह आदमी भिन्न-भिन्न प्रकार से

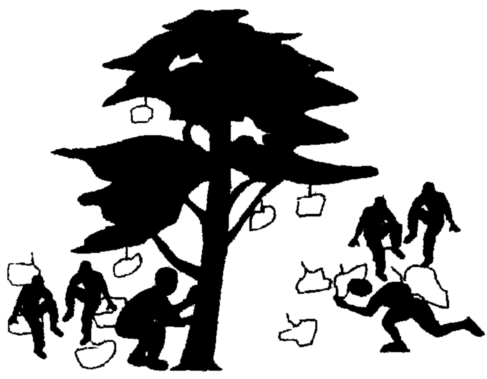

चित्र 6 लेश्या वृक्ष

सोचते हैं। सबसे बुरे मनोभावो वाला व्यक्ति वह है जो पूरे पेड को ही काटना चाहता है और सबसे अच्छा आदमी वह है जो पेड के नीचे पडे हुये पके फलों को खाकर ही सतोष मानने की बात सुझाता है। लेश्या वृक्ष जैनाचार्यों के मनोवैज्ञानिक चिंतन का प्रतीक है और हमें शुभ भावों, अहिसक प्रवृत्तियों को अपनाने का संदेश देता है।

(य)**गुणस्थानों की सांप-सीढ़ी का खेल** :- यह भी एक मनोवैज्ञानिकत: अध्यात्म पथ के विकास का स्वरूप दर्शाने वाला प्रतीक चित्र है। इसमे मनोभावो, कषायों या अशुभ विचारों को शुभतर रूप मे परिणत करने के चौदह चरण बताये गये है। इसका विवरण (चित्र 2) पहले दिया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि दमन या उपशमन विकास का अच्छा मार्ग नही हे। उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण अधिक अच्छा उपाय है।

(र) हाथी और छह अंधे :-यह प्रतीक चित्र अनेकातवाद को सरलता से समझाता है। यह संकेत देता है कि कोई भी मनुष्य पूर्ण नही है। वह अधे के समान अपूर्ण है। प्रत्येक अन्धा हाथी को उसी रूप मे देखता है जिस रूप मे वह उसे छूता है। किसी के लिये हाथी खम्भे के समान है, किसी के लिये हाथी रस्सी के समान है, इत्यादि। एक आख वाला व्यक्ति उन्हे समझाता है कि प्रत्येक ने जो देखा है, वह अशत: ही सत्य है, पूर्णत: नही। पूर्ण सत्य तो छहो लोगो के द्वारा जो छुआ गया है, उसका सकलित रूप है। यह प्रतीक सत्य को समग्र आशिक सत्यो के समाकलन से प्राप्त होता बताता है।

चित्र 7 हाथी और छह अधे

(ल) एक घाट पर सिंह और शावक :- यह प्रतीक चित्र जैन-तंत्र के अहिसा के सिद्धान्त का निदर्शक है। जैन धर्म की अहिसा विरोधी-समागमो की सम्प्रेरक है। नदी के पार करने के पथ पर हिसक शेर और दुर्बल शावक एक स्थान पर मिलते है। एक दूसरे को पार-पथ देते है। मानव को

भी अपने जीवन मे सहनशीलता बरतते हुये पारस्परिक हितो का ध्यान रखना चाहिये और ससार मे सुख की वृद्धि करना चाहिये।

चित्र 8 एक घाट पर सिंह और शावक

(व) धर्म चक्र :- यह धर्म चक्र गतिशील ससार का प्रतीक है। इसे शाति और समृद्धि के प्रशस्त मार्ग पर चलने के लिये चक्र के विभिन्न आरे अनेक व्रत एव सयम के नियमो के प्रतीक है। इनसे ही ससार मे सुखमयता बढती है। धर्मचक्र के

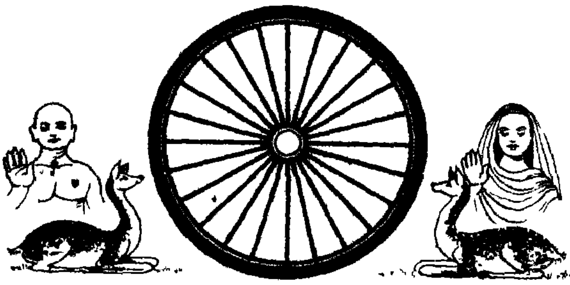

चित्र 9 धर्मचक्र

दोनो ओर सत्य और अहिसा के प्रतीक दो हिरण बने रहते है। इस चक्र को चतुर्विध सघ आदरभाव से देखता है। ससार के सभी जीवो का कल्याण सत्य और अहिसा से ही होता है। ये ही दो घटक हमे ससार चक्र के परिभ्रमण से मुक्त कर सकते है। सत्यभक्त ने इसीलिये सत्य को भगवान और अहिसा को भगवती ही मान लिया है।

(श) जैन विश्व : जैनतत्र के इस समग्र सक्षेपण के प्रतीक की उद्‌भावना वीर निर्वाण की पच्चीसवी सदी के अवसर पर 1974-75 मे की गई थी। इस चित्र के अनुसार, जैन विश्व को दोनां पैर फैलाकर खडे और कमर पर हाथ मोडे मनुष्य के समान आकार का मानते है। इसमे वर्तमान विश्व मध्य मे पडता है जो गोलाकार माना जाता है जहा हम रहते है। इस

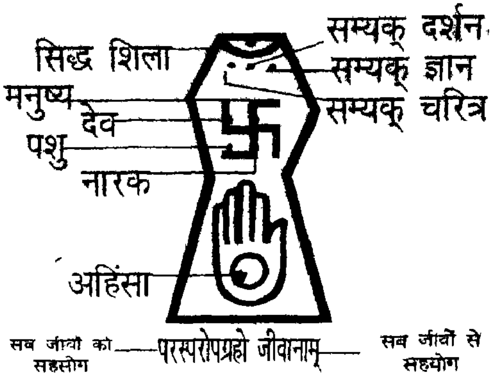

चित्र 10 जैन विश्व

विश्वरचना मे (1) चक्रयुक्त पजा, (2) स्वस्तिक (3) तीन बिन्दु और (4) अर्धचन्द्राकार स्थान पर बिन्दु बनाये गये है। यहा चक्रयुक्त पजा अहिसा और अभय तथा सर्व-जीव-समभाव का प्रतीक है, स्वस्तिक को तो चार गतियो का प्रतीक बताया ही जा चुका है, तीन बिन्दु जैन धर्म के अध्यात्म पक्ष की त्रिवेणी–रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र) के प्रतीक है जिनके अनुपालन से ससरण-स्वस्तिक को सुखमय बनाया जा सकता है। अर्धचन्द्राकार स्थान सिद्ध शिला कहलाती है जहा बिन्दु के रूप मे सिद्ध-मुक्त जीव रहते है। इस प्रकार इस प्रतीक मे जीवन के लक्ष्य (उत्तम सुख, सिद्ध शिला प्राप्ति) और लक्ष्य प्राप्ति के उपाय (अहिसा, अभय और रत्नत्रय) तथा वर्तमान ससार का आकार एव विविधता के आयाम बताये गये है जहा से हमे सिद्धि प्राप्त करना है। इस प्रतीक के नीचे जैनतत्र का प्रेरक वाक्य भी लिखा गया है जिसके अनुसार "सभी जीव" एक दूसरे के उपकारक है। फलत हमे स्वय जीकर अन्यो के जीवन के उत्थान मे सहयोगी बनना चाहिये। यही धर्म पथ है, यही जीवन पथ है और यही अध्यात्म पथ है।

11. विदेशों में जैन धर्म

जैन इतिहास के अनुसार, भगवान रिषभदेव या आदिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी युग मे जैनधर्म के पहले प्रवर्तक हुये। इन्होने श्रमण सस्कृति के विश्वधर्मी सिद्धान्तो का सार्वत्रिक प्रचार किया। इनका उल्लेख वेदो और

पुराणो मे भी मिलता है। इन्होने और इनके उत्तरवर्ती अनुयायियो ने बातरशना, व्रात्य या श्रमणो के रूप मे देश-विदेश (यूनान, ईराक, ईरान, सुवर्णभूमि, मलय आदि) मे पदयात्राओ के माध्यम से अहिसा सस्कृति को सर्दव सार्वत्रिक रूप मे प्रसारित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पिछले दो-सौ वर्षों से पर्याप्त प्रगति पर है, पर इसके पूर्व का समुचित विवरण उपलब्ध नही होता। हा, कुछ सूचनाये अवश्य ऐतिहासिक काल क्षेत्र मे आती है।

शास्त्रो मे 25½ आर्य क्षेत्र एव 55 म्लेच्छ क्षेत्रो का वर्णन आता है। 'शिष्ट-जन-सम्मत व्यवहार न करने वाले अनार्य है' की शास्त्रीय परिभाषा मे वर्तमान विश्व का अधिकाश भाग अनार्य ही माना जायेगा क्योकि वहा न तो जैन ही थे और न उनके उपदेशक। पर यह परिभाषा अब परिवर्धनीय हो गई है क्योकि हम देखते है कि ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व ही न केवल श्रमण-साधु ही धर्म प्रसार-परिरक्षण यात्राये करते थे, अपितु "पणि" (जैन व्यापारी) भी एशिया के अनेक द्वीपो मे व्यापार हेतु जाते थे और वे धर्म एव सस्कृति के प्रत्यक्ष न भी सही तो परोक्ष प्रचारक होते थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से उन्होने सुमेर, मिश्र, बेबीलोन सूबा, अफ्रिका, यूरोप एव एशिया के क्षेत्रो मे अपनी सस्कृति को फैलाया। ये सुमेर सभ्यता के सस्थापक बने। यही नही इस बात के उल्लेख है कि मध्य एशिया के शासक गिलागमश लगभग 3600 ईसा पूर्व मे भारत यात्रा पर आये थे और उन्होने आचार्य उत्तनापिष्टिम के दर्शन किये थे। बाबुल 1140 ई०पूर्व के सम्राट नेबुचेदनजर ने गिरनार आकर वहा एक दानपत्र अर्पित किया था। क्वाजल कोरल के नेतृत्व मे पणिसघ वर्तमान अमरीकी क्षेत्र मे 2000 ईसापूर्व मे गया था और वही बस गया। ऐसा ज्ञात होता है कि वर्तमान पश्चिमी क्षेत्रो मे भी जैन-सस्कृति का प्रभाव था। यही कारण है कि हगरी मे आये एक भूकप के समय बुदापेष्ट नगर के एक बगीचे मे एक तीर्थंकर प्रतिमा निकली थी। यूनान और अन्य क्षेत्रो मे जैन साधुओ का अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से माना जाता है। वहा और मिस्र मे जैनमूर्तिया भी मिली है। समनेरस और "शमन" जैसे नाम भी इसी सस्कृति के प्रतीक लगते है। इस विषय मे 'विदेशो मे जैन धर्म' पुस्तक पठनीय है।

उपरोक्त उल्लेखो से ईसापूर्व सदियो मे विश्व के अनेक भागो मे जैन सस्कृति के व्यापक एव प्रभावक अस्तित्व का अनुमान लगता है। लेकिन

भगवान पार्श्वनाथ के समय से लका में तो जैन मंदिरों एवं मठों की सूचना भी मिलने लगती है। महावीर के युग मे ईरान का राजकुमार आर्द्रक भारत आया था और जैन साधु बना था। इससे ईरान देश के राजकुल मे भी जैन प्रभाव सिद्ध होता है। सम्राट सिकंदर भी अपने साथ कल्याण मुनि को ले गया था। दुर्भाग्य से उनकी समाधि ईरान मे हो गई थी पर अन्य साधु मिश्र तक गये थे। विन्सेंट स्मिथ ने बताया है कि सम्राट संप्रति ने अरब, ईरान तथा अन्य देशों में अनेक जैन साधु एव राजपुरुष जैनधर्म के प्रसार हेतु भेजे थे। कालकाचार्य द्वितीय ने भी अपने शिष्यों को धर्म प्रचार हेतु एशियाई देशो (सुवर्ण भूमि) मे भेजा था। इन्होने स्वय भी ईरान, जावा सुमत्रा आदि की पदयात्रा की थी। इन साधुओ एव राजपुरुषों के कारण ही अनेक देशों मे आज भी जैन सस्कृति के अवशेष पाये जाते हैं। उसके सिद्धान्तो ने उन-उन क्षेत्रवासियो की जीवन शैली को प्रभावित किया है

इतिहास–निरपेक्षता की वृत्ति के कारण कालकाचार्य के बाद अनेक सदियों तक जैन साधुओ के भारत से बाहर जाने की सूचनाये प्राप्त नहीं होती, परन्तु जो विदेशी पर्यटक एव शासक यहा आये, वे अवश्य जैन-सस्कृति से प्रभावित हुये और वे अपने अपने देशो में उसके सवाहक बने। यही नही, जैन व्यापारी गण तो सदैव ही समुद्रपार यात्राये करते रहे। फलत· साधुओ के अभाव मे भी विदेशो मे विभिन्न भागो मे जैन सस्कृति के बीज पल्लवित होते रहे।

साधु और व्यापारी तो प्रमुखत. जैन आचार का वाहक है। जैन विचारो का सवहन और दार्शनिक चिंतन तो ब्रिटिश काल मे ही प्रभावी बन सका जब 1807 से कर्नल मेकेजी जैसे अनेक पाश्चात्य अन्वेषको एवं (दो दर्जन से भी अधिक) विद्वानो ने जैन धर्म और सस्कृति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होन जैन विद्या के विविध अंगों का अध्ययन कर उसे विदेशी भाषाओ मे प्रस्तुत किया और उसे अध्ययन का विषय बनाया। उनके प्रयत्नो का ही यह सुफल है कि आज विश्व के प्राय. सभी महाद्वीपो मे जैन विद्याओ के शताधिक अध्ययन केन्द्र है, स्नातक एव स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम हैं, अनेक शोधकर्त्ता है और नयी शोधदिशाये उद्घाटित हुई है। यह विद्वन्–मडली ही सास्कृतिक प्रवाह की सर्वतोमुखी वाहिका होती है।

विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त, इस प्रवाह को गतिमान बनाने मे शिकागो में 1893 में सपन्न "विश्वधर्म ससद" मे भाग लेने वाले एक मात्र

जैन प्रतिनिधि श्री वीरचंद्र राघव जी गांधी ने महान योगदान किया है। उनके जैनधर्म सम्बन्धी लोकप्रिय व्याख्यान वर्षों तक विदेशों में हुये। वैरिस्टर चम्पतराय-मण्डली ने भी अंग्रेजी मे जैन साहित्य लिखकर एवं अनुदित कर उसे जनसुलभ बनाया और उसके विदेशो में लोकप्रिय बनाने i योग दिया। डा० कामता प्रसाद जैन ने "विश्व जैन मिशन" सस्था तथा ाइस आफ अहिसा" "अग्रेजी जैन गजट" तथा सैकड़ों लघु पुस्तिकाओ के माध्यम से इस कार्य मे योग दिया। उन्होंने लदन की जैन लाइब्रेरी तथा बडगोडेस वर्ग के शासकीय पुस्तकालय को जैन साहित्य से आपूरित किया। यद्यपि उनका यह मिशन सुनियोजित रूप न ले सका, फिर भी इसके कारण विश्व के अनेक भागों मे सैकडो जैनेतरो मे जैन धर्म के प्रति रूचि जागी। अब इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये अनेक सस्थाये सुगठित हुई है। यह भाग्य की बात है कि बीसवी सदी के प्रारम्भ मे भारत से आये अनेक जैन व्यापारी विदेश के विभिन्न भागो मे व्यापार हेतु जाने लगे और उसमे सफलता पाकर विदेशो मे ही बसने लगे। इस बीच अनेक लोग उच्चतर अध्ययन, आजीविका हेतु भी उस ओर जाने लगे। फलतः अफ्रिका, यूरोप, उत्तरी अमेरिका एवं एशियां महाद्वीप के अनेक भागो मे जैन पर्याप्त सख्या मे पहुचे। यह विदेशवासी जैनो की दूसरी पीढी थी। कालातर मे इस पीढी ने पिछले 15-20 वर्षों मे अपनी ही सस्कृति के सरक्षण के उद्देश्य से अनेक सस्थाये, सस्था-सघ एव जैन केन्द्र खोले। नैरोबी, लेस्टर, सिद्धाचल, शिकागो, डल्लास आदि मे जैन मदिर बनवाये और प्रभावक प्रतिष्ठाये आयोजित की। समय-समय पर अल्पमोली साहित्य भी (पत्र पत्रिकाये भी) प्रकाशित किया। इस सदी के सातवे दशक से तो जैन साधु भी वहा पहुचने लगे और योग तथा ध्यान की प्रक्रिया के माध्यम से जैनतत्र को लोकप्रिय बनाने लगे। अब तो प्रतिवर्ष प्राय. एक दर्जन से अधिक साधु-साध्वी और इतने ही विद्वान वहा जाने लगे है जो अपने सार्वजनिक भाषणो से इस तत्र को और भी लोकप्रिय बना रहे हैं। इस लेखक ने भी प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि इससे अनेक विदेशी विद्वानों से उनका सपर्क हुआ है जो अब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विश्व के कोने-कोने मे जैन सस्कृति के दूत बनकर उसे सप्रसारित कर रहे हैं। अब जैन-विद्याये अनेक राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनो का अग बनने लगी हैं। अनेक जैन और जैनेतर विद्वान इनमे भाग लेते है। जैन सस्कृति के विविध

पक्षो पर ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रास, आस्ट्रिया, कनाडा, अमरीका, जापान तथा अन्य देशो मे शोध कार्य सम्पन्न होने लगा है। विभिन्न अवसरों पर वार्षिक व्याख्यानमालाये भी आयोजित होती है। नयी पीढी के लिये भी अनेक कार्यक्रम आयोजित होते हैं। इस तरह विदेशो मे अब जैनधर्म जैनो मे तो लोकप्रिय हो ही रहा है, वह वहा के सामान्य और विद्वत्‌जनो को भी आकर्षित कर रहा है। अब यह विश्व के प्राय· सभी महाद्वीपो मे अपनी पहचान बनाता दिखता है। इसके साधु, साध्वी, विद्वान और श्रावक सर्वत्र दिखने लगे है। यही कारण है कि भारत के बाहर जैनो की सख्या अब लाखो मे पहुच चुकी है। इस प्रकार हम देखते है कि इस सदी के पूर्व तक प्राय. अज्ञात बना यह धर्म अब दिग्-दिगत मे अपनी सुवास फैला रहा है। इसका भविष्य अति उज्ज्वल है। एतदर्थ विश्व के कुछ प्रमुख केन्द्रो पर स्थायी रूप से जैन केन्द्र स्थापित करना एव जीवनदानी जैन साधु/विद्वन्‌मण्डली को तैयार करना आवश्यक है।

12. जैनतंत्र की प्रभावकता का संवर्धन

जैनतत्र के सिद्वान्तो की वैज्ञानिकता और सार्वजनीन उपयोगिता के बावजूद भी यह अपने से उत्तरवर्ती तत्रो की तुलना मे प्रभावी रूप से अतिजीविता एव प्रचार क्यो नही पा सका ? यह प्रश्न गहनत. विचारणीय है। सामान्यत विश्वजनीनता के लिये तत्र की एक-सस्थापकता, एक पवित्र पुस्तकता और उत्तमता की धारणाये उत्तरदायी मानी जाती है। दुर्भाग्य से, ये तीनो ही धारणाये इस पर लागू नही होती क्योकि इसके सस्थापको की चौबीसी की त्रैकालिक परम्परा है, इसकी पवित्र पुस्तको की सख्या 12-84 के बीच कुछ भी हो सकती है। इसी प्रकार अन्य तत्रो मे भी सत्यता है-की अनेकातवादी धारणा इस तत्र की उत्तमता को भी स्पष्टत उद्‌घोषित नही करती। यद्यपि इन तीनो ही आधारो पर इसकी प्रभाविता प्रबल नही दिखती, पर बौद्धिक दृष्टि से इसका व्यक्ति-विहीन गुण-विशेषित नाम और इहलौकिक एव पारलौकिक सुख-सवर्धन की प्रक्रिया इसे महाप्रभावी सिद्ध करती हे। वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग के लिये यह उत्तम तत्र है। इसकी लोकप्रियता के सवर्धन के लिये अनेक उपाय सुझाये जा सकते है। अनेक विचारक यह मानते है कि (1) इसकी प्रागैतिहासिक कालीन परम्परागत

प्राचीनता की धारणा ही इसकी लोकप्रियता मे बाधक बनी है। (2) इसकी निवृति मार्गी भाषा-जिसमें दमन, कायक्लेश, भोजन-नियत्रण, उपवास और शारीरिक एव मानसिक कठोर साधना तथा त्याग आदि समाहित है–भी लोगो को बहुत रास नही आ पायी है। लोगो की यह धारणा है कि अधिक प्राचीनता जडता का सकेत देती है। फलत. हमे इसकी भाषा को नवीनता-सकारात्मकता देनी होगी। यही नही, इसमे जनसाधारण के लिये कोई विशिष्ट दर्शन नही है। यही कारण है कि यह अनेक वर्तमान समस्याओ पर केवल मौन दर्शाता है। (3) जैन तत्र सकल्पी, व्यक्तिवादी एव पौरुष प्रधान तत्र है। इसमे स्वय का श्रम ही लक्ष्यवेधी होता है। फलत. अन्य भक्तिवादी तत्रो की तुलना मे यह जनसाधारण को और भी कठोर प्रतीत होता है। (4) यह अतीतमुखी भी अधिक लगता है। वस्तुत. ये सभी विन्दु इसकी व्याख्या के वर्तमान स्वरूप को व्यक्त करते है। यदि हम इसके सिद्धान्तो को नयी वैज्ञानिक भाषा और आकर्षक व्याख्या दे सके, तो इसकी प्रभावकता की वृद्धि मे चार चाद लग सकते है। आज के वैज्ञानिक युग मे इसके अधिकाश भौतिक और नैतिक जगत सबधी सिद्धान्त न केवल पुष्ट हुये है अपितु परिवर्धित भी हुए है। यही कारण है कि आज विश्व के अनेक भागो मे इसके प्रति रुचि बढ रही है।

जैन तत्र विश्व का अप्रतिम अनीश्वरवादी तत्र है जिसमे जीवन की वाह्य और आभ्यन्तर अनत सुखमयता के आशावादी उद्देश्य को स्वयं प्राप्त करने के सकारात्मक उपाय बताये गये है। इसमे समग्र जीवन धारियो के प्रति समत्व और स्नेह, परिवेश की शुद्धता के प्रति चर्याये, सुविचारित क्रियात्मकता, स्वय के ईश्वरत्व के प्रति आशावाद, शाकाहारी पद्धति के प्रति प्रतिबधहीन समर्पण, हिसा, पीडा, या दुख के अल्पीकरण की प्रवृत्ति, बुद्धिवादी दृष्टिकोण को अपनाने की मानसिकता, सर्वधर्मसमभावी सापेक्षदृष्टि, जाति एव सम्प्रदायविहीन समाज रचना की मौलिक वृत्ति, अनेक सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण (गर्भपात, मृत्युदण्ड, सुखमृत्यु-इन के सबध मे सैद्धान्तिक सहमति नही है) आदि समाहित हैं। इन्ही आधारो पर जैनतत्र को प्रगतिशील, गतिशील और क्रातिकारी कहा जाता है। हमे इस तत्र के इन रूपो का आधुनिक रीति से व्यापक प्रसार करना चाहिए। इन सभी आधारो पर जैनतत्र के विश्वीयकरण की प्रक्रिया

का भविष्य अत्यन्त आशावादी है। अनेक विदेशी विद्वानों ने जैनतंत्र के इस आशावादी रूप का अनुभव किया है और जैनो के सम-सामयिक समस्या निवारक स्पष्ट दृष्टिकोणो की सराहना की है।

13. समसामयिक समस्यायें और जैन धर्म

अभी कुछ ही समय पूर्व विश्व के एक-सौ महापुरुषों के विषय में जानकारी देने वाली एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इसमें महावीर का नाम सम्मलित किया गया था। पाश्चात्य विद्वानो द्वारा महावीर का इस सूची में चयन यह इगित करता है कि इस विश्व मे मानव व्यवहार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं उसके आध्यात्मिक स्वरूप के विवरण के लिये महावीर ने पश्चिम पर अमिट छाप छोडी है। जैनो का अनीश्वरवाद का सिद्धान्त मानव को स्वय (अपने पुरुषार्थ से) अपना भाग्यविधाता बनाता है। यह मानव को अपने समय की समस्याओ के समाधान के लिये समर्थ क्षमता प्रदान करता है। ये समस्यायें प्रायः मानवकृत ही हैं जिन्हे वह जैन नीतिशास्त्र और व्यवहारशास्त्र के निर्देशो के आधार पर सुगमता से हल कर सकता है।

हम लोग वैज्ञानिक एव औद्योगिक प्रगति के युग मे रह रहे हैं जहा हम अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाओ एवं उपभोक्तावाद की ओर उन्मुख हो रहे है। आधुनिक युग की प्रवृत्तियो ने "स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन" के सिद्धान्त को झूठा सिद्ध करने की ठान ली है। इस युग में महावीर के युग की तुलना मे अधिक समस्याये उत्पन्न हुई हैं। इनमे कुछ तो भूतकालीन समस्याये हैं और कुछ नवीन भी है। ये समस्याये व्यक्ति के नैतिक स्तर, पारिवारिक जीवन, महिलाओ का स्तर और उनकी भूमिका आदि व्यक्ति प्रधान जीवन से प्रारभ होकर धर्म, जातिवाद, जनसख्या, पर्यावरण, युद्ध और आर्थिक विषमता की समस्याओ तक जाती है। जैन मान्यता के अनुसार, अहिसा की मूलभूत अवधारणा के अनुप्रयोग उक्त समस्याओं के अनेक पक्षो के समाधान के लिये अमृत का काम कर सकते है।

जैन व्यवहार शास्त्र मूलत. व्यक्ति के बौद्धिक स्तर और भौतिक व्यवहारो को उन्नत करने का मार्ग है। जैन विश्वास करते है कि उच्च

नैतिक र'र का व्यक्ति समाज एव जगत के उन्नयन के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसीलिये साधु-सन्तो को इतना आदर और मान्यता प्राप्त है। इसलिये जैन तत्र मे सर्व प्रथम व्यक्ति के बाहरी परिष्करण और आंतरिक उन्नयन के लिये अनेक उपयोगी व्यवहारिक उपाय सुझाये है। उनका अहिसा का मौलिक सिद्धान्त इस विषय मे पर्याप्त व्यापक अर्थ रखता है। यह सिद्धान्त अपनी अधारशिला मे मन, वचन और काय से मानव को विश्वबधुत्व के आदर्श के अनुरूप विश्वस्तरीय नैतिक व्यवहार की प्रेरणा देता है। यह शाकाहार से प्रारभ होता है जिससे हमारे ग्रथिस्रावो की कोटि शान्तिमुखी और उदार मनोवृत्ति को जन्म देती है। यह विचारों और प्रवृत्तियो की शातिपूर्ण प्रगतिशीलता के लिये भीतरी और बाहरी उत्तम परिवेश का निर्माण करती है। इससे मानव मे प्रेम, करुणा एव स्नेहपूर्ण व्यवहार की प्रवृत्ति जागती है। वह सघर्षहीन जीवन की ओर उन्मुख होता है। अहिसक जीवन पद्धति का अनुयायी दूसरो को किसी प्रकार की हानि न पहुचे—इस दृष्टि से व्यवहार करता है। ऐरो व्यक्ति की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति सदैव विवेकपूर्ण, सहयोगपूर्ण एव सर्वोदयी होगी।

(अ) पुरातन (कैरी ओव्हर) समस्यायें: जाति, कुल और धर्म

अहिसक जीवन पद्धति मे सभी मानव जाति एक है, उसमे जाति, कुल या धर्म सबंधी समस्याये उत्पन्न ही नही होनी चाहिये। जैनतत्र मे जाति प्रथा को कोई स्थान नही है, फलतः सभी प्राणी समान और भ्रातृत्व-सूत्र-बद्ध माने जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य के कर्म, व्यवसाय के नैतिक मूल्य और गुण ही उसके चरित्र और व्यवहार के निर्धारक है। फलतः जैनो मे जन्म-पर-आधारित जाति प्रथा नहीं है जो जातिवाद को जन्म देती है। जैन-तंत्र के अनुयायी समाज के सभी जातीय वर्गों से आते रहे है एवं उसे एकरूपता, समभावता, जीवतता तथा सामर्थ्य देते रहे हैं। इसके शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के अहिसक सिद्धान्तो के परिपालन ने जैनों को यह ख्याति दिलाई है कि वे ससार मे सर्वाधिक नैतिक मूल्यो के धनी हैं और उनमें अपराधवृत्ति न्यूनतम है। वास्तव में, जैनो को विश्व में जातीय, धार्मिक एवं अन्य संघर्षों की वृद्धि पर सहानुभूतिपूर्ण आश्चर्य होता है। सभवतः इन सघर्षों का कारण सबंधित वर्गों की स्वय की उत्तमता की धारणा है जो जैनो मे नही पाई जाती। जैनों के अनेक सप्रदायों के सैद्धान्तिक या

बौद्धिक मतभेद, इसीलिये, कभी भी उग्र रूप नहीं ले पाये क्योकि अनेकांतवादी जैन सभी मतंव्यों मे सापेक्ष सत्याश देखते है। यही कारण है कि यद्यपि जैनतंत्र व्यापक रूप से सप्रसारित नहीं हो सका, फिर भी इसके सिद्धान्त वर्तमान मानव जाति और उसकी भावी पीढियों के लिये नैतिकतः उन्नत समाज निर्माण के लिये मार्गदर्शन देते है। यदि हमे संघर्षहीन विश्व बनाना है, तो स्वय की उत्तमता की अवधारणा को सर्वसमकक्षता के रूप मे परिवर्धित करना होगा।

जैन तत्र यह विश्वास करता है कि धर्म व्यक्ति और समाज के अधिकाधिक सुखमय बनाने का माध्यम है। इसके अनुसार, हमारे व्यवहार, दृष्टिकोण, विवाद और प्रवृत्तिया, क्षेत्र, काल, वर्तमान स्थिति और मौलिकता की चार दृष्टियो के अनुरूप होनी चाहिये। यह अपेक्षा दृष्टि बहुत कम तत्रों में पाई जाती है। यह मत इस तथ्य से सुनिश्चित हो जाता है कि इस अनुरूपता को बनाये रखने के लिए जैनाचार्यों ने समय-समय पर अपने मतो मे सयोजन, परिवर्धन, पुनःपरिभाषण एव सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षो का समाहरण किया है। इस प्रकार जैनो मे कभी भी कट्टरवाद नहीं पनप पाया जो आज के युग में भयकर रूप से, अन्य तत्रो में, दृष्टिगोचर होता है और आज का प्रत्येक विवेकशील बुद्धिवादी उसकी निदा करता है।

अहिसक जीवन पद्धति का यह एक अनिवार्य परिणाम है कि हम सभी मतवादो के प्रति साहिष्णु बने। जैनो की सापेक्षवादी विचारधारा का प्रशिक्षण न केवल हमे बौद्धिक दृष्टि से सहिष्णु बनाता है, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी आदर्श बनाता है। यह समभावी या सर्वोदय की दृष्टि आज के युग की आवश्यकता है। इस दृष्टि को सभी लोगों मे पल्लवित करना चाहिये जिससे कट्टरवाद का शमन या विलयन हो एव ऐसे व्यावहारिक जीवन का उदय हो जो संप्रदायबाद के ऊपर उठकर सच्ची धर्म भावना को प्रेरित एव प्रवर्धित कर सके।

(ब) महिलायें और जैन-तंत्र के सम्वर्धन में उनका योगदान

यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि पितृसत्ताक समाज ने सामान्यतः महिलाओ के प्रति सदैव अनुदारता दिखाई है, यद्यपि धार्मिक कथा कहानियो एवं इतिहास मे इस प्रवृत्ति के कुछ अपवाद भी मिलते है। संभवतः वर्तमान

समाज मे यह धारणा है कि मातृसत्ताक समाज में पुरुष जाति के प्रति भी इसी कोटि की अनुदारता बरती गई होगी। इसलिए इस प्रक्रिया को परिवर्धित करने के बदले व्युत्क्रमित करना चाहिये। पर महिलाओं की मातृत्व-संज्ञा इस मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करती। महावीर का युग परंपरावादी समाज का युग था जहा महिलाये विक्रय तक की वस्तु मानी जाती थीं। महावीर ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज उठाई और पुरुषों और महिलाओ की समानता का सिद्धान्त प्रवर्तित किया। जैन इतिहास बताता है कि अकविद्या ओर अक्षरविद्या का सवर्धन भगवान रिषभदेव की पुत्रियो-ब्राह्मी और सुदरी-ने ही किया था। जैनो मे लक्ष्मी, सरस्वती, अबिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि को उपकारक देवियो के रूप मे माना गया है। तीर्थंकरो की माताओ को उत्तरवर्ती काल मे शलाकापुरुषो मे समाहित किया है। महावीर की महिलाओ सबधी उदार विचारधारा का ही यह परिणाम था कि उन्होने अपनी चतुर्विध सघ-व्यवस्था मे साध्वियो और श्राविकाओ को पृथक स्थान दिया जिसके विषय मे प्रगतिशील माने जाने वाले बुद्ध भी सकोच करते रहे। साथ ही, यह भी पाया गया है कि महिला संघ के सदस्यो की सख्या पुरुष वर्ग से सदैव दुगुनी रही है। महावीर के युग मे सभवतः साध्विया अधिक होती थी। इसके तीन सभव कारण तो बताये ही जा सकते हैं– (1) बहुपत्नीत्व प्रथा के प्रति सामान्य महिलाओं में आतरिक अरुचि (2) वैधव्य के व्यक्तिगत और सामाजिक कष्ट और (3) महिलाओ की दासी आदि के रूप मे विक्रयशीलता। इसके अन्य कारण भी अनुसधेय है। यह देखा गया है कि जैन साध्विया जैन सस्कृति एव चारित्र के परिपालन एव सरक्षण मे सदैव महत्वपूर्ण योगदान करती रही है। जैन श्राविकाये भी, अनेक कालगत प्रभाव दोषो के बाद भी, अन्य कोटि की महिलाओं से अच्छी स्थिति मे रही है। महावीर की इस उदारता का ही यह फल है कि उनका साध्वी सघ आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है। अन्य तत्रो मे यह सघ एक तो नगण्य है और फिर वह इतना महत्वपूर्ण भी नही है। महावीर का महिलाओ की समानता और पुरुषवत् सामर्थ्य का सिद्धान्त आज व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रशंसनीय माना जाता है और अब तो इसे आनुपातिक राजनीतिक आरक्षण भी दिया जा रहा है। ऐसे ही अनेक सिद्धातो से महावीर के मतो की आधुनिक युग मे उपयोगिता प्रकट होती है। अनेक लोग जैन साहित्य मे वर्णित कुछ विवरणो (उदाहरणों) के

माध्यम से जैनों मे महिलाओं का अरुचिकर एव निराशापूर्ण चित्रण दिखाते है, पर ये विवरण तत्कालीन सामाजिक मनोवृत्ति के निरूपक है। इसी मनोवृत्ति को ही तो महावीर ने परिवर्तित करने का यत्न किया है।

महावीर के धर्म में ससार से निवृत्ति के लिये और सुखवर्धन के लिये जिस प्रकार संसार की दुखमय यथार्थता का, शरीर से ममत्व हटाने के लिये उसके अतरंग अवयवों एव सरचना का अरुचिकर वर्णन मिलता है, उसी प्रकार नारी को ससार के कारण के रूप मे मानकर उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने के लिये उसके दुर्बलपक्षो का भी वर्णन मिलता है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव को दुख निवृत्ति एवं सुखवृद्धि के मार्ग के लिये प्रेरित करने का उपक्रम है। पर इसे एकपक्षीय विवरण नहीं मानना चाहिये।

वस्तुत. महावीर के धर्म में नारी के उज्ज्वल पक्ष का विवरण भी पर्याप्त प्रभावक है। उसे चक्रवर्ती के चौदह रत्नो मे से एक माना जाता है। वह केवल पुत्री, पत्नी, माता ओर गृहलक्ष्मी ही नही है, वह जैन संघ की महत्त्वपूर्ण घटक भी है। वह अध्यात्मपथ की ओर अग्रसर आर्यिका एव साध्वी भी है। बोरदिया ने अपने ग्रथ में प्रागैतिहासिक काल से लेकर बीसवीं सदी तक की 430 प्रमुख जैन महिलाओ का विवरण दिया है जिसमें उन्होंने जैन सस्कृति के विविधपक्षो के संवर्धन मे अनेक रूपो मे उनके प्रभावक योगदान की चर्चा की है। इसमे सन्मार्ग-प्रेरक के रूप मे भी उनका योगदान बताया गया है (नीलाजनाओ ने तीर्थंकरों को, ब्राह्मी-सुदरी ने बाहुबलि को, राजुल ने रथनेमि को, मदोदरी ने रावण को, वेश्या कोशा ने स्थूलभद्र के सहधर्मी साधुओ को, सुभद्रा ने धन्ना को, जाकल देवी ने त्रिभुवनपाल को प्रतिबुद्ध किया)। उनके सतीत्व, महासतीत्व एवं शीलव्रती रूप के अनेक उदाहरण ज्ञात है। इनमे अनेक विदुषी भी रही हैं (याकिनी महत्तरा, गणिनी ज्ञानमती)। उन्होंने साहित्य निर्माण एवं प्रतिलिपिकरण कराकर उनकी रक्षा भी की है (ओवे, कतीदेवी, रणमति, रत्नमति, अतिमब्बे आदि)। उन्होंने प्रशासन और वीरता मे यश कमाया है (अक्कादेवी, केतलदेवी, शांतलदेवी, सावियव्वे आदि)। अध्यात्म पथिक बनने वाली महिलाओं की सख्या तो अगणित है ही। फलत : इस उज्ज्वल पक्ष के प्रभावक वर्णन की तुलना में उनके विषय मे अरुचिकर वर्णन तुच्छ ही लगता है। इसीलिये अनेक विद्वान यह मानते हैं कि नारी के विषय में जैन मान्यतायें अन्य तत्रो

की तुलना मे अधिक उदार रही हैं। यही कारण है कि वे न केवल भूतकाल में ही, अपितु वर्तमान काल मे भी विभिन्न क्षेत्रों में अपना कौशल प्रदर्शित कर रही हैं।

जैनों ने सामाजिक दृष्टि से वश–कुटुब की या मानव समाज की निरतरता बनाये रखने के लिये नैतिक दृष्टि से विवाह-प्रथा का संवर्धन किया है। वे मानते हैं कि मैथुनी ऊर्जा मानव की एक सांद्रित विधायक ऊर्जा का रूप है। इसे और भी अच्छे आतरिक विकास के समान रचनात्मक कार्यों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। नीचैर्मुखी मैथुनी ऊर्जा को ऊर्ध्वमुखी बनाना चाहिये। इसीलिये पश्चिम की तुलना में जैनो ने इसे नैतिकता का महत्वपूर्ण मापदंड माना है। यही कारण है कि साधु और साध्वियो को सदैव ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का सिद्धान्त स्थिर किया गया है। इस नियत्रित मैथुन सिद्धान्त का ही यह प्रतिफल है कि जैनो की जनसख्या मे सापेक्षतः अल्पवृद्धि होती है और उनकी समाज मे यौन अपराध नगण्य ही होते है। नियत्रित ब्रह्मचर्य सबधी महावीर के इस सिद्धान्त का महिला समाज की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओ के समाधान के रूप मे विश्वस्तरीय सप्रसारण आवश्यक है। गर्भ-निरोधक उपाय यौन-सबधो के नैतिक अधःपतन को रोकने मे सफल नही हो पाये है और एड्स के समान नई घातक बीमारियो ने और जन्म ले लिया है। अच्छे नैतिक जीवन एव समुचित सामाजिक समुत्थान के लिये आत्म सयम या ब्रह्मचर्य सर्वाधिक समर्थ उपाय है। इसके लिये दृढ इच्छाशक्ति, सकल्पशक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है। इससे समग्रत यौन-अपराधो मे कमी होगी, महिला सबधी अनाचरणो मे कमी होगी और जनसख्या भी नियत्रित होगी। यह एड्स के समान रोगो की नियामक भी होगी। नियत्रित यौन-सबधो की धारणा आज के युग की माग है। जनसख्या नियत्रक सस्थाये यदि इस धार्मिक सिद्धान्त पर गहन विचार कर इसे अपने प्रयत्नो मे एक अतिरिक्त साधन के रूप में स्वीकार कर प्रसारित करे, तो यह महान लाभकारी होगा।

महिलाओ से सबधित एक सामाजिक प्रकरण ने और राष्ट्रीय महत्व का रूप लिया है। यह गर्भपात से सबधित है। धर्म की व्यक्तिगत विकास की अहिसक धारणा के दृष्टिकोण से निश्चित रूप से इसका समर्थन कोई भी न करेगा। लेकिन जब यह समस्या सामाजिक एव राष्ट्रीय रूप लेती है,

तब उस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार तो अपेक्षित हैं ही। कुछ आगमों मे गर्भपात के उपायों के निरूपण से यह तो प्रकट होता ही है कि यह विधि प्राचीन काल में प्रचलित थी। फिर भी, यह कहना असगत नहीं होगा कि इसे सार्वजनिक अनुमोदन नहीं था। आज जनसख्या वृद्धि और उसके राष्ट्रीय आर्थिक प्रगति पर पडनेवाले विपरीत प्रभावो से सारा मानव समाज चिंतित हो रहा है। धार्मिक सिद्धान्तो के विश्वस्तरीय सप्रसारण के दृष्टिकोण से उनकी व्यवहारिकता की चर्चा मनोरजक है। टोबायास ने लिखा है कि ससार मे शुद्ध या मध्यम अहिसको की सख्या अत्यन्त कम है। फिर भी, उनका सिद्धान्त आकर्षक तो है ही। यह व्यक्तिगत समस्याओ के समाधान और विकास मे सहायक तो है पर सभी राष्ट्रीय समस्याओ के लिये इसके रूप भिन्न-भिन्न एव परिवर्धित होगे। उसकी तो मान्यता है कि चूकि शास्त्रो मे इस सबध मे न विरोध है और न समर्थन, अतः ऐसे प्रकरणो मे मानव को बहुजनहित एव भावी हित की दृष्टि से विचार करना चाहिये। यह दृष्टि जितनी ही अहिसक होगी, उतना ही उत्तम होगा। सुखमृत्यु, दहेज और विधवा विवाह के समान समस्याये भी अहिसक और अनेकाती दृष्टिकोण चाहते है।

(स) युद्ध और राजनीति

यद्यपि जैनो का अहिसा सिद्धान्त व्यक्तिप्रधान है, फिर भी अनेक धर्मगुरुओ और राजनेताओ ने इसमें विद्यमान प्रसुप्त क्षमता की उत्कृष्ट कोटि का अनुभव किया है। वे इसे सामाजिक समानता और राष्ट्रीय स्वतत्रता की उपलब्धि का माध्यम बना सके। महात्मा गाधी, मार्टिन लूथर किग, डी-वेलेरा, नेल्सन मडेला और अन्य ज्वलत नक्षत्र हैं जिन्होने अहिंसा और उसकी अपार क्षमता को अभिव्यक्त करने मे इस सदी मे ही योगदान किया है। मध्यकाल मे भी अनेक जैन साधु-सतो ने अपनी अहिसक जीवन पद्धति एव चर्या के आधार पर ही अनेक राजाश्रय पाये और जैन सस्कृति के अखिल भारतीय रूप को संवर्धित किया। आज विश्व के अनेक भागों में "सेना रहित राज्य" की अवधारणा इसी अहिंसा के सिद्धान्त का राजनीतिक विस्तार है। फलतः अब अहिसा व्यक्ति प्रधान मात्र न रहकर समाज एव राष्ट्र की उन्नति का अमोघ अस्त्र बन रही है। संयुक्त राष्ट्र सघ (195 देश), पक्षातीतता का आदोलन, जी -77, सार्क, तथा अन्य सस्थायें

विश्वस्तर पर इसके प्रायोगिक स्वरूप हैं। अहिंसा की व्यावहारिक धारणा ने नैतिक पुनर्जागरण, निःशस्त्रीकरण तथा न्यूक्लीय एवं रासायनिक युद्धकला के प्रयोगो की उपेक्षणीयता के प्रति विश्वस्तर पर विश्वास जगाया है। विश्वशाति एंव संघर्ष-समाधान अब एक शैक्षिक शोध विषय बन गया है। इसके लिये अनेक संस्थाये विश्व के अनेक भागो में स्थापित हुई हैं। भारत मे भी जैन विश्वभारती एव अणु-विभा जैसी सस्थायें गठित हुई हैं जिन्होंने अनेक संघर्ष -समाधान के वैज्ञानिक एव नैतिक पहलुओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी आयोजित किये है।

विश्व की राजनीतिक शक्तियों ने अहिंसा के प्रायोगिक प्रतीक-पचशील के प्राचीन सिद्धान्तों को मान्यता दी है और राजनीति में नैतिकता तथा पारस्परिक विचार-विनिमय के अनेकान्तवादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के अनेक उपक्रम किये है। राजनीतिज्ञो ने अब विवेक और विचार-विनिमय (संगोष्ठी, सम्मेलनो) के माध्यम से अपने अनेक राजनीतिक प्रकरण निपटाने की प्रक्रिया अपनाई है। ये प्रक्रम भी अहिसा और दृष्टिकोण-समन्वय के आधुनिक रूप है। वस्तुतः युद्ध और उससे होनेवाली विनाशलीला को टालने के लिये यह प्रक्रिया सर्वोपयोगी सिद्ध हुई है। इस दिशा मे भरत और बाहुबली का ऐतिहासिक दृष्टात अत्यन्त मार्गदर्शक है जो विश्वशाति के सवर्धन मे परम सहायक है। मेरूप्रभ नामक हाथी का उदाहरण भी यह सकेत देता है कि पशुओ मे भी अहिसक वृत्ति जाग सकती है। अहिसक राजनीति स्थायी शाति और प्रगति के नवयुग का सूत्रपात करेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनो के अहिसा और अनेकातवाद के सिद्धान्तो ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे राजनीति एव युद्धोन्माद को नियन्त्रित करने मे वर्तमान युग मे महत्वपूर्ण योगदान किया है और इन सिद्धान्तों की व्यापकता बढाई है। शाति की दिशा मे इनका स्वरूप दार्शनिक एव आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ सार्वकालिक और सार्वभौम होता जा रहा है।

(द) सामाजिक विषमता और जैन समाजवाद

नैतिक, और धार्मिक दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं और समान क्षमता रखते है। इसलिये सयुक्त राष्ट्रसघ के मानव अधिकार घोषणापत्र के अनुसार उन्हे भोजन, वस्त्र, आवास एव आजीविका आदि अन्य कारको के लिये समान अवसर होने चाहिये। लेकिन हमे वर्तमान स्थिति इस आदर्श

से पर्याप्त भिन्न मिल रही है। उपरोक्त दृष्टियो से अधिसंख्य मनुष्यों की स्थिति संतोषपूर्ण नहीं है। हम देखते हैं कि प्राकृतिक और अर्जित संपदा कुछ ही हाथों मे केन्द्रित है और अधिसख्य व्यक्ति दुख और अभाव से ग्रस्त हैं। इसका कारण क्या है? मनुष्य की सामान्य प्रकृति महत्वाकाक्षी और अस्मितावादी होती है जिसे वह अपने बुद्धिबल, चातुर्य एव ससाधनो से सतुष्ट करता है। तथापि, इन्हें पूर्ण करने में बहुत कम लोग ही सफल होते है जो दूसरो का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दमन और अधिग्रहण करते हैं। इस प्रकार समाज मे दो वर्ग बन जाते हैं जिनमें भारी असमानतायें होती हैं। धर्मज्ञ लोग इस तथ्य की कर्मवाद के पर्याप्त मनोवैज्ञानिकत: संतोषकारी सिद्धान्त से व्याख्या करते है। यही अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओ एव विषमताओं का कारण है। लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह स्थिति पूर्णतः सही नही है, सामाजिक दृष्टि से यह न्याय संगत भी नहीं है।

इस सामाजिक विषमता को दूर करने की दिशा मे भी जैनतंत्र ने महत्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है। उसने सपत्ति और ससाधनो के आवश्यकतानुसार समान वितरण, चतुर्विध दान की अनिवार्य प्रवृत्ति और अपनी लोभवृत्ति तथा आवश्कताओ को नियत्रित एव सीमित करने के सिद्धान्त प्रतिपादित किये है। इसे जैन समाजवाद कहा जाता है। इसका उद्देश्य मनुष्यो को न केवल आध्यात्मिक स्तर पर ही समानता प्रदान करना है, अपितु भौतिक स्तर पर भी उनमे समानता लाना है। यह सिद्धान्त भी अहिसा के मानवीकृत स्वरूप की अभिव्यक्ति है। यह जैन-तत्र के पाच अणुव्रतो या महाव्रतों मे से पाचवा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसे "अपरिग्रहवाद" (ममकार-त्याग) कहा जाता है। यह मानव की एक अतरग वृत्ति है जो सपत्ति और साधनो के प्रति विरागता उत्पन्न करती है। वस्तुतः जैन तत्र का बल नैतिकता की ओर अधिक उन्मुख है, भौतिक या आर्थिक तत्रों की ओर वह अधिक उन्मुख नही है। फलतः मनुष्य की दो मूल वृत्तियो—अहकार और ममकार, यहा मेरा है आदि—को नियत्रित एव विदलित करने के लिये जैन तत्र अनेक उपाय सुझाता है जिससे समाजवादी सर्वोदयी समाज रचना का लक्ष्य प्राप्त हो सके। इसीलिये गाधी जी का सपत्ति के ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जैन समाजवाद का ही एक रूप है। वर्तमान युग मे विकसित

समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद और सामाजिक पूजीवाद जैनतंत्र के अपरिग्रहवाद के नये-नये रूप हैं जो क्षेत्र और काल के प्रभावों से विकसित हुए हैं। जैनों के इस अपरिग्रहवाद में वर्तमान की विषम आर्थिक एव सामाजिक समस्याओं के समाधान के बीज निहित हैं।

इस सिद्धान्त का मूल मंत्र यह है कि व्यवसायो मे सत्य और ईमानदारी का मन, वचन और काय से परिपालन किया जाय। इस आधार पर कर वंचन, कर-चोरी, और स्मगलिग धर्म और नीति-दोनो के विरुद्ध है। आजकल अनुचित कार्यों के लिये मनोवैज्ञानिकतः दिये गये नरक सबंधी उपदेशो के प्रति जनसामान्य की उपेक्षावृत्ति तथा वर्तमान दड प्रक्रिया की कमजोरी के कारण ये प्रवृत्तिया निरतर बढ रही हैं और विषमता की खाई भी, फलतः वर्धमान है। इस दिशा मे धर्म के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को जन-मन मे प्रवीजित करना एक अच्छा उपाय है। जैनतत्र आजीविका और व्यवसाय सभी क्षेत्रो मे नैतिक नियमो, अपरिहग्रहबाद की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का पक्षधर है। यह वर्तमान के दलाली और कमीशन के माध्यम से परोक्ष और विपुल अर्जन को अनैतिक मानता है। यह प्रवृत्ति भौतिकतः सम्पन्न अवश्य बनाती है पर यह नैतिक एव आध्यात्मिक विकास की दिशा को हीयमान करती है। नैतिक मूल्यो का यह वर्धमान अवनमन वर्तमान युग की एक क्रातिक समस्या बन गई है।

हमे लालबहादुर शास्त्री के द्वारा चलाये गये "सप्ताह मे एक बार का भोजन त्यागो" कार्यक्रम का स्मरण आता है जिसके माध्यम से उन्होने असख्य दरिद्रो को भोजन कराने मे सहायता की कल्पना की थी। विनोबा भावे भी एक ऐसे ही अन्य महापुरुष थे जिन्होने भूदान-यज्ञ के माध्यम से भूमिहीनों को भूमि उपलब्ध कराने का आदोलन प्रारम्भ किया था। आजकल अकाल-वृष्टि, अधिवृष्टि, भूकप एव अन्य प्राकृतिक या मानवकृत दुर्घटनाओ के समय भोजन, वस्त्र, औषधि आदि का विश्व के विभिन्न भागो मे आपूरण करना भी अहिंसा और करुणा के अर्थशास्त्र का एक रूप है जो इन सिद्धान्तो के आशिक विश्वीकरण की प्रवृत्ति को निरूपित करता है। इसीलिये टोबायास कहता है कि जैनतंत्र यह सिद्ध करने मे सफल हुआ है कि व्यवसाय के अर्थशास्त्र की अहिंसक और अपरिग्रहवादी पृष्ठभूमि भी एक विकसित एव नैतिकतः सुखमय समाज की रचना कर सकती है।

(य) पर्यावरण संरक्षण

जैनों के अहिंसा सिद्धान्त के तीन प्रमुख अभिधेय हैं–(1) सभी प्राकृतिक पदार्थों में सजीवता या सर्वजीववाद की धारणा (2) सभी जीवों में समानता की अनुभूति एवं करुणाभाव का अनुप्रयोग और (3) सभी जीवों में पारस्परिक सहयोग, उपकार्य-उपकारक भाव या अन्योन्य निर्भरता का निरीक्षण। इस तरह यह सिद्धान्त मनुष्यों के अतिरिक्त पशु एव प्राणिजगत को भी समाहित करता है। यह समग्र जीवित तत्र का प्रतीक है और प्रत्येक जीविततत्र के लिये समता एवं आदरभाव रखने का आदेश देता है और तदनुरूप प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करता है। आचारांग के समान जैनो की प्राचीनतम पवित्र पुस्तक मे बताया गया है कि उच्चतर जीवो की तो बात ही क्या, वनस्पतियो को भी किसी प्राकर की हानि पहुचाना मोह, कर्मबंध, मृत्यु एव नरक का द्वार है। वास्तव में, यदि कोई मनुष्य अपनी ही सजीव जाति के निम्न स्तर के जीवन को हानि पहुंचाता है, तो वह अहिंसक या धार्मिक कैसे हो सकता है?

इन महत्वपूर्ण उपदेशो ने हमारे समाज एव परिवेशो के क्षेत्रो को भी प्रभावित किया है। सामाजिकत ये उपदेश हमे शाकाहारी बनाते है और पर्यावरण की दृष्टि से ये हमे पर्यावरण के सतुलन को बनाये रखने के लिये प्रकृतिमाता को सौदर्यमयी बने रहने मे सहायक होते है।

इस सदी के प्रारभ मे शाकाहार अनेक प्रकार के विवादो एव भ्रात सूचनाओ का शिकार बना था, पर अब वैज्ञानिक मानने लगे है कि यह एक पोषक, प्रबलन के द्वारा संपूरित, दीर्घजीविता प्रदायक एवं आध्यात्मिकत. भद्र आहार पद्धति है। इसका विश्व मे व्यापक प्रचार हो रहा है और इसके प्रसार के लिये अनेक राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय सगठन काम कर रहे हैं। एक ताजी रिर्पोर्ट के अनुसार, मासाहारी व्यवसाय की श्रृखलाये क्रमश : बद होती जा रही है। विश्व की विमान सेवाओ तक मे 25-30 प्रतिशत लोग शाकाहारी भोजन की माग करने लगे हैं। अब तो यह भी माना जाने लगा हैं कि शाकाहार अपनाने से विश्व मे खाद्य की कमी की समस्या हल होती है। यह पद्धति स्वास्थ्यदायक है, इससे उत्तम कोटि के ग्रंथि स्त्राव होते है जो क्रोधादि सघर्षकारी एवं हिसक प्रवृत्तियो को बलवान नही बनने देते। यद्यपि इस पद्धति के प्राचीन उद्घोषक जैन रहे हैं, पर यह सब धर्मों मे

(जैनों के समान तीक्ष्णता से नहीं) मान्य है और अब विश्वजनीन होती जा रही है।

जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण से उत्पन्न हानिकारक गैस और अपशिष्ट पदार्थ, विभिन्न प्रकार के वाहनो का उपयोग, वनों का दुरुपयोग या अधि-उपयोग और अन्य कारणो से इस समय भयकर पर्यावरण की समस्याये उत्पन्न हो रही है जिनमे अतरिक्ष मे ओजोन परत का विदारण भी है। स्वच्छ एव सतुलित पर्यावरण के लिये अनेक प्रयत्न किये जा रहे है और विश्व स्तर पर इस समस्या की विकरालता के कारण और निवारण के उपाय ब्राजील-जैसे सम्मेलनो मे चर्चित हो रहे है। दूरदर्शन और अन्य सचार माध्यमों से वनस्पतियो के दुरुपयोग को रोकने, वृक्षों/वनो की कटाई पर नियत्रण करने तथा जल, विजली एव अन्य प्राकृतिक ससाधनो के दुरुपयोग या उपेक्षणीय उपयोग पर नियंत्रण करने के सदेश निरंतर प्रसारित किये जा रहे है। पर्यावरण की शुद्धता बनाने रखने के लिये जनमानस को जागरूक बनाने के लिये पर्यावरण दिवस, वृक्षारोपण सप्ताह आदि का आयोजन किया जा रहा है। अब तो "पर्यावरण सेना" का भी गठन होने लगा है।

बहुतेरे लोग यह कह सकते है कि पर्यावरण सरक्षण के सगान समस्याओ का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? लेकिन जैन-तत्र के सर्वजीववाद एव अहिसा के सिद्धान्त और उनके अनेक शास्त्रीय विवरण इस दिशा मे हमे पर्याप्त मार्गनिर्देश देते है। अहिसा की मानसिक मनोवृत्ति वृक्षों या बनो को अनावश्यक रूप से नष्ट करने या एकेन्द्रिय जीवो को हानि पहुचाने की प्रवृत्ति पर नियत्रण करती है और वन एव वन्य प्राणियो को सुरक्षा देती है। जैनो की आवश्यकताओ के अल्पीकरण एव अनर्थदण्ड वृत्ति की मान्यताये यह सकेत देती है कि हमे पृथ्वी मा या प्रकृति से उतना ही लेना चाहिये जितना वह पुनरुत्पादित कर सके या हम उन साधनो के पुनरुत्पादन मे सहयोग कर सके। इससे वर्षा और वनो के बीच सतुलन बना रहेगा। "वन महोत्सव" इसी प्रक्रिया का प्रतीक था। जैन शास्त्र बताते है कि हमें अपनी न्यूनतम आवश्यकतानुसार ही प्राकृतिक ससाधनो का उपयोग करनार चाहिये। जैनाचार्यों को महाप्रभु ईसा से सदियों पूर्व इस बात का अनुभव हुआ था कि हमारा पर्यावरण तत्र अन्योन्य-निर्भर है जिसमे जल, वायु,

विविध कोटि के जीव और मनुष्य सभी आते है। इस अन्योन्य-सहायक वृत्ति का ही यह परिणाम है कि जैनों ने पशुओ और पौधों के प्रति करुणाभाव एव आदरभाव अपनाने की वृत्ति को अनिवार्य बनाया। जैनों को पर्यावरण संरक्षण सबंधी महत्वपूर्ण बिन्दुओं को "प्रकृति सरक्षण के लिये जैन घोषणा पत्र" में प्रस्तुत किया गया है जो 1990 में अन्तर्राष्ट्रीय विश्वजनीन प्रकृति-सुरक्षा फंड, लदन के अध्यक्ष प्रिंस फिलिप को भेट किया गया था।

इसके अतिरिक्त, यह सभी मानते हैं कि पर्यावरण प्रदूषण मानव की भौतिकवादी लोभवृत्ति का तथा धर्माचार्यों के उपदेशो की उपेक्षा का परिणाम है। यदि व्यक्ति और राष्ट्र जैन तत्र की अहिंसक आचार संहिता का पालन करे, प्रकृति की सेवाओं का दुरुपयोग न करें, अपनी भौतिकवादी उपभोक्ता संस्कृति के प्रश्रय की तुलना में आवश्यकताओं को कम करें, तो पर्यावरण की समस्या आज के समान क्रांतिक न बन पाये। यह मनोवृत्ति और प्रवृत्ति एक विशेष प्रकार का प्राथमिक एवं प्रारंभिक प्रशिक्षण चाहती है जो उपभोक्ता संस्कृति के प्रति अवाछनीय अनुराग को दूर करने के सकल्प मे सहायक हो सके। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे धर्माचार्य भौतिकवादी वैज्ञानिको की तुलना में अच्छे और प्रभावी उपदेशक सिद्ध नहीं हो सके है जो मनुष्य को मनोवैज्ञानिकतः अहिंसक वृत्ति अपनाने के लिये प्रबल प्रेरणा दे सके। फिर भी, ऐसा तो प्रतीत होता ही है कि पर्यावरण समस्याओ को सुलझाने के लिये मनुष्य की अंतिम शरण ये अहिसामय धार्मिक सिद्धान्त ही होगे।

हम यह देखते है कि मानव ने धर्माचार्यों के पर्यावरण सरक्षण के लिये उपयोगी प्राय. सभी उपदेशों की उपेक्षा की है। आज औद्योगीकरण एव वैज्ञानिक प्रगति को इसका दोषी माना जाता है पर इसका कारण भी मानव द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के समाजहित के अनुकूल न पालन कर जनसंख्या की अपारवृद्धि है। इसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तो प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्योग पनपे हैं। अतः पर्यावरण की सुरक्षा का प्रथम दायित्व तो मनुष्यो का ही है। यदि वे धार्मिकत. उपदिष्ट और वैज्ञानिकतः प्रस्तुत जनसख्या निरोधक साधन अपनायें, तो इस समस्या मे पर्याप्त कमी आ सकती है। जैनो के अनेक व्रत और युक्तिया भी पर्यावरण संरक्षण को प्रेरित करती है। यदि हम अपनी आवश्यकताओ (परिग्रह, भोग, उपभोग

आदि) का परिसीमन करने की मनोवृत्ति विकसित करें, तो उद्योगों की बहुलता एव तज्जन्य प्रदूषण में भी कमी होगी। साथ ही, जैनो का अनर्थदंड व्रत (अनुपयोगी या उपेक्षणीय जल, थल, नभ के ससाधनों का उपयोग) आज के संचार माध्यमों द्वारा जल, बिजली एव थल-सक्षारण के मितव्ययितापूर्ण सदुपयोग का ईसापूर्व–कालीन रूप ही है। शाकाहार की प्रवृत्ति भी पर्यावरण संरक्षण में सहायक है क्योकि इसमे मासाहार की तुलना मे अल्पमात्रा मे प्रकृति का सदोहन होता है। इसी प्रकार, यदि हम अपने कायिक व्युत्सर्गों को ग्रामीण पर्यावरण में गांधी पद्धति के आधार पर विमोचित करे, तो भी प्रदूषण मे कमी आ सकती है। ध्वनि प्रदूषण भी भाषा समिति के सत् प्रयोग से कम किया जा सकता है। दिग्व्रत और देशव्रत के अन्तर्गत व्यावसायिक या अन्य परिभ्रमण को सीमितकर वाहनजन्य प्रदूषण मे किंचित् कमी तो लाई ही जा सकती है। वस्तुत: ये परिसीमन ग्रामीण-सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे और हिसा के अल्पीकरण की दृष्टि से उपदेशित किये गये थे। आज की शहरी सस्कृति के युग मे ये सीमाये उपहासमात्र लगती हैं। परन्तु जैसे अहिसा का स्वरूप व्यक्तिगत से राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय हो गया है, वैसे ही इन व्रतो को व्यापक रूप देकर यथाशक्ति परिसीमन करने से लाभ ही होगा। वैसे ऐसा लगता है कि सचार सुविधाओ के जागतिक विस्तार से इन व्रतों के परिपालन को प्रेरणा ही मिली है। इस प्रकार जैनो के अनेक व्रतो का व्यापकीकरण पर्यावरण सरक्षण मे अत्यन्त प्रभावी रूप ले सकता है।

14. परीक्षा की घड़ी : सर्वोदयी जैन तंत्र

आज का व्यक्ति और समाज जैन-तत्र मे प्रतिपादित व्रतों के परिपालन की दृष्टि से एक तिराहे पर खडा है। वर्तमान का वातावरण लाभ-हानि की दृष्टि से अनेक विरोधी कारकों के प्रति अनुराग और विकर्षण से भरा हुआ है। आज मानव का विवेक कठिन परीक्षा के दौर से गुजर रहा है। तथापि, यह ध्यान मे रखना चाहिये कि धर्म-तत्र मनुष्य को ऐसा लक्ष्य निर्देशित करता है जहां उसे अत्यन्त सावधानी एवं सामर्थ्य से बढने का प्रयत्न करना चाहिये। यह आशा की जाती है कि जैनतंत्र की शिक्षायें अच्छे ओर नैतिक सर्वोदयी समाज के निर्माण की इस परीक्षा की घड़ी में अतिजीवी सिद्ध होंगी। इसीलिये जैन सदैव शातिपाठ और अन्य भावनाओं को अपने

दैनंदिन जीवन का अग बनाये हुये हैं। मुख्तार जी की "मेरी भावना" के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निम्न उद्देश्यों के अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये

सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न दुख पावे।
वैर-भाव, अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे।।

जैन प्रार्थनाओ की ऐसे स्वरो की लहरे निश्चित रूप से एक शातिमय एव गतिशील विश्व की सरचना मे सहायक होगी। इस दृष्टि से जैन तत्र के सर्वोदयी विचारो एव प्रवृत्तियो का भविष्य अत्यन्त प्रकाशवान लगता है। पाचवीं सदी के आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिये जैनतत्र को 'सर्वोदयीतत्र', अपने 'युक्तयनुशासन' मे बताया था। वह रूसो के 'नागरिक धर्म' की बीसवी सदी की अवधारणा का ईसापूर्व कालीन रूप है।

●●●

परिशिष्ट-1

संदर्भ समग्री

1. एलवुड, जूनियर रोबर्ट एस. मैनी पीपुल, मैनी फेथ्स, प्रेटिसहाल, एंगलवुड क्लिफ्स, नीउ जर्सी, यू.एस.ए., 1986
2. जैन, ज्योतिप्रसाद : रिजीजियन ऐड कल्चर आफ दी जैनाज, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1983 पे0 3
3. पडित, आशाधर . सागरधर्मामृत, वही 1984
4. वर्णी, जिनेन्द्र. जैनेन्द्र सिद्धात कोष-4, वही, 1973 पे0 51
5. आचार्य, कुदकुद . बारस अणुवेक्खा, कुदकुद भारती, दिल्ली, 1990 पे0 77
6. आचार्य, बट्टकेर; मूलाचार-1, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1984 पे0 5
7. निर्देश-2 देखिये, पे0 15-31
8. ग्रेनोफ, फायलिस, मेकमास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा मे प्रस्तुत शोघ निबन्ध, 19 88
9. श्रीवास्तव, महेश प्रसाद, जैनधर्म और दर्शन, शब्दपीठ, इलाहाबाद, 1990 पे0 75.78.
10. मालवणिया, दलसुख, आगमयुग का जैनदर्शन, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, 1966 पे0 11
11. आचार्य, नेमचन्द्र, गोम्मटसार जीवकाड, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास, 1972
12. दीक्षित, के0के0. जैन आन्टोलोजी, एल0 डी0 इस्टीट्यूट, अहमदाबाद, 1971 पे0 11
13. द्विवेदी, व्ही0पी0; केलाशचन्द्र शास्त्री अभि. ग्रन्थ, रीवा, 1976 पे0 3.57

14. जैन, एन0एल0, जे0एम0एल0 शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ, रीवा, 1989 पे0 324
15 निर्वाण काड, बृहत्त् महावीर कीर्तन, महावीर जी, 1971
16. एटवुड, ए0आर0, रिलीजियन, रिचुअल्स ऐड रिलीज, ए0बी0सी0 न्यूयार्क, 1980
17 जैनी, पी0एस,. जैन पाथ आब प्योरीफिकेशन, केलि. यूनि., वर्कले, 1979 पे0 188
18. गाधी, एस0 एल0 : अणुविभा, जयपुर 1.1.92
19. मुख्तार, जे0के0 . मेरी भावना, अहिसा स्थली, दिल्ली 1988
20 स्वामी, सुधर्मा, आयारो, टुडे ऐड टुमोरो, दिल्ली, 1981 पे0 20
21. आचार्य, उमास्वामी, तत्वार्थसूत्र, दि0जैन सघ, मथुरा 1950 पे0 15
22 स्वामी सुधर्मा, आचाराग-1, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1980 पेज 123.34
23. उत्तराध्ययन, तेरापथी महासभा, कलकत्ता, 1967 पे0 207
24 आचार्य कुदकुद, (1) समयसार (2) नियमसार, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिग हाउस, लखनऊ 1930 पे4 और 75
25. मर्डिया, के0व्ही0, साइटिफिक फाउडेशन आव जैनीज्म, एम0एल0बी0डी0, दिल्ली, 1990 पे0 85, 10,108
26 न्यायाचार्य, महेन्द्र कुमार, जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, *1966 पे0 356*
27. जैन, एन0एल0, साइटिफिक कटेट्स इन प्राकृत केनन्स, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1996
28 कोठारी, डी0 एस0 : कै0 च0 शास्त्री अभि. ग्रन्थ रीवा, 1976 पे0 3.68
29. जवेरी जे. एस. और मुनि, महेन्द्र; माइक्रोकारमोलाजी, जे0व्ही0वी0, लाडनू, 1991 पे0 42-52
30 आचार्य, हेमचन्द्र, प्रमाण मीमांसा, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1986 पे0 58
31 वर्णी, जिनेन्द्र, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष 3. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1974 पे0 192

32. जैन, एन0 एल0. जैन जर्नल, अप्रैल, 1989
33 युवाचार्य, महाप्रज्ञ; कर्मवाद, आदर्श साहित्य सघ, चुरू, 1985 पे0 159
34. वही, पे.38
35. सदर्भ 29 पे0 183।
36. प्रियदर्शन; स्टोरी, स्टोरी, विश्व दर्शन ट्रस्ट, महसाणा, 1987 पे0 1
37. टोबायास, माइकेल, लाइफ फोर्स, एशियन ह्युमेनिटीज प्रेस, बर्कले, कै0 1991
38. आचार्य कुदकुद, भावप्राभृत, दि0जैन सस्थान, महावीर जी, 1967 पे0 431-34
39. कोठारी, डी एस0 : साइस एंड रिलीजियन, राजकृष्ण ट्रस्ट, दिल्ली 1977,
40 जैन, एस के. और जैन, सी0 के, व्यक्तिगत पत्राचार
41. मेहता, जे0यू0, दी पाथ आफ अर्हत्, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1992 पे.-114
42 चटर्जी, ए0के0 . कम्प्रेहैसिव हिस्ट्री आफ जैनीज्म, भाग 1-2, के. एल0एम. कलकत्ता 1974/1984
43. जैन, गोकुल प्रसाद, नवनीत, ऋषि प्रकाशन, झासी, 1996 पे0 2 8
44 आचार्य, रजनीश,महावीर, मेरी दृष्टि मे, रजनीश प्रकाशन, पुणे, 1989
45 बोरदिया, हीराबाई, जैनधर्म की प्रमुख साध्विया और महिलाये, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1991
46. कासलीवाल कस्तूरचन्द्र; खडेलवाल जैन जाति का इतिहास, इतिहास प्रकाशन सस्थान, जयपुर 1992
47 मदान, टी एम , टाइम्स आफ इडिया, अक्तूबर 16,1996
48 जैन, गोकुल प्रसाद, विदेशो मे जैन धर्म, भा० दि० जैन महासभा दिल्ली, 1997

परिशिष्टर 2

सारणी-2: एलवुड के विन्दुओं के आधार पर जैनतंत्र के मौलिक सिद्धांतों का विवरण

1.	**लोक के संबंध में धारणा**	विश्व एक है। इसके ऊर्ध्व, मध्य, और अध. के रूप मे तीन भाग है। मानव प्राणी मध्य लोक मे रहते है। इस विश्व मे चार प्रकार के प्राणी नारक, देव, पशु और मनुष्य रहते है। इसका विशिष्ट आकार है। यह अनादि और अनत है। इसे किसी दैवी शक्ति ने नही बनाया। इसमे ध्रुवता के बीच परिवर्तन सदैव होते रहते है।
2.	**ईश्वर या चरम तत्व**	ईश्वर चरम तत्व नही है। विश्व मे छह चरम तत्व-द्रव्य है-जीव, अजीव, गति एव स्थिति माध्यम, आकाश, काल
3.	**विश्व का प्रादुर्भाव**	प्राकृतिक, अनादि-अनत
4.	**विश्व की नियति**	विश्व मे सदैव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र चलते रहते है।
5.	**मनुष्यों का प्रादुर्भाव**	प्रथम प्रार्दुभाव अनादि है। कर्मो के कारण ये अगणित पुनर्जन्म ग्रहण करते है।
6.	**मनुष्यों की नियति**	शुभ और अशुभ कर्मो के कारण अगणित जन्म और मृत्यु के चक्र। ये चक्र व्रत, तप एव आत्मानुभूति के कारण होने वाले कर्म क्षय से नष्ट होते है और परमसुख प्राप्त होता है।

7.	मनुष्य और चरमसत्य के बीच सम्बन्ध	पाच परमेष्ठियो एवं तीर्थंकरों के उपदेशो और उनके साहित्य के माध्यम से मनुष्य अपने अभ्यास द्वारा चरम सत्य का अनुभव करता है।
8.	प्रायोगिक : मानव-व्यवहार एव प्रवृत्तिया और उनका लक्ष्य	पाच अणुव्रत-या महाव्रतो का पालन, अभ्यंतर और बाह्य तपो का अभ्यास, शुभतर जीवन एव जन्म के लिये रत्नत्रय मार्ग का परिपालन अहिसक जीवन पद्धति, सर्वोदयी लक्ष्य।
9-	सामाजिक : प्रमुख सामाजिक सस्थाये	संस्थाये, मदिर, स्थानक, स्थिर चतुर्विध सघ-व्यवस्था, परस्पराश्रित सघ (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका,) जनहितकारी अनेक संस्थाये।